प्रश्न पत्र-1 भाग-क
पदार्थ विज्ञान एवं आयुर्वेद इतिहास प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : दर्शन शब्द का अर्थ एवं निरुक्ति बताइये ?

उत्तर : निरूक्ति : शब्द रचना की दृष्टि से दर्शन शब्द दृश् (देखना) धातु के करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर बनता है। इसका सामान्य अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाए एवं ज्ञान प्राप्त किया वह दर्शन है।

परिभाषा : गूढ़ एवं छिपे हुए विषयों का ज्ञान कराने वाले शास्त्र दर्शन कहलाते हैं। आध्यात्म विषयक मार्ग दर्शन कराने वाले ग्रन्थ दर्शन कहा जाते है।

लक्षण : दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।

अर्थात : जो ज्ञान रूप में मार्ग दर्शन करें उन शास्त्रों को दर्शन कहते हैं।

सभी प्रकार की विद्याओं का सार दर्शन शास्त्र है मूलतत्व या संग्राहक है। दर्शन शास्त्र में सभी प्रकार के विषयों की गणना की जाती है यथा–ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या (परा विद्या या मेटाफिजिक्स अथवा फिलासोफी प्रापर), आध्यात्मविद्या, चित्तविद्या या अन्त:करण शास्त्र (साइकालोजी), तर्क या न्याय (लाजिक), आचारशास्त्र या धर्ममीमांसा (एथिक्स) और सौन्दर्यशास्त्र या कला (इस्थेटिक्स या साईंस आफ आर्ट) आदि समस्त विषयों का शिक्षण, परीक्षण पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं भारतीय एवं यूरोपीय दर्शनों का भी पारस्परिक समन्वय देखा जा सकता है।

शरीर विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान एवं अन्य विज्ञान, जीवन एवं उसका स्थान, कर्मस्थान, सृष्टि आदि का वर्णन (विवरण) अपने अपने दृष्टिकोण से सभी दर्शन करते हैं। दर्शन शास्त्र का एक उद्देश्य यह भी है कि बताई गई इन विज्ञानशाखाओं में सामन्जस्य स्थापित करके उन्हे एक सूत्र में पिरोया जाए। यही इसका उद्देश्य है।

मूल रूप से सम्पूर्ण मानवता एक है और उसका लक्ष्य भी एक है। उसके विचारों का मूल उद्गम और अवसान एक ही लक्ष्य में निहित है। यही समस्त दर्शनों की विचारधारा है। सद्कर्म करते हुए मोक्ष प्राप्ति करना।

दर्शन का उदगम : दु:ख सामान्य की निवृत्ति तथा सुख सामान्य की प्राप्ति है। इसी उद्देश्य से दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ। विशेष-विशेष दु:ख की निवृत्ति एवं विशेष-विशेष सुख की प्राप्ति के लिए विशेष-विशेष शास्त्रों, शिल्पों एवं विद्याओं के उपाय भी बताए गए हैं, किन्तु आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति एवं सुखोपलब्धि के लिए दर्शनशास्त्र ही उत्तम उपाय है। दर्शन का नामकरण भी इसी कारण हुआ है कि वह सभी शास्त्रों का संग्राहक है। इसमें सभी शास्त्रों का सारतत्त्व निहित है।

उपरोक्त दार्शनिक विवरण में आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति पर बल दिया गया है। चूंकि आयुर्वेद भी दर्शन ग्रन्थों से प्रभावित है, अत: मोक्षप्राप्ति हेतु शरीर के स्वस्थ रहने की आवश्यकता पर बल देते हुए चरक लिखते हैं :

धर्मार्थकाममोक्षणामारोग्यमूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तार: श्रेयसो जीवितस्य च।। च.सू. 1/15

पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम शरीर की आरोग्यता को प्रधान बताया है। शरीर

को निरोग रखने हेतु आयुर्वेद में अनेक सिद्धांत, विभाग कर्म तथा द्रव्यों का गुण एवं उपयोग सहित वर्णन किया गया है जिनका अध्ययन करना आवश्यक है।

प्रश्न : विभिन्न विचारको द्वारा दर्शन संख्या बताइये?

उत्तर : दर्शन संख्या वर्णन : भारतीय महर्षियों ने अपने अपने मतानुसार तत्व एवं पदार्थों का वर्णन करते हुए विभिन्न नामों से ग्रन्थ लिखे हैं। अत: गुणरत्न तथा मणिरत्न भद्र विद्वानों का मत है कि इनकी संख्या एवं स्वरूप निर्धारण करना सम्भव नही है। इसी प्रकार का वचन महाभारत में भी आया है। **''नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्''।** किन्तु **'रेखा गवय न्याय'** द्वारा सम्मति तर्क में विभिन्न मतों की संख्या 363 बताई है। दर्शनों का विभाग भी किया है। यहां हम सामान्य ज्ञान की दृष्टि से संख्या पर विचार कर रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में प्रसिद्ध षड्दर्शन ही विख्यात है, फिर भी प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विभिन्न दर्शनों का वर्णन किया है।

1. सम्मति तर्क द्वारा-इस मत द्वारा 363 दर्शनों या मतों का उल्लेख किया है जिनका विभाग इस प्रकार है–

(क) क्रियावादी दर्शन 180

(ख) अक्रियावादी दर्शन 84

(ग) आज्ञावादी दर्शन 67

(घ) वैनयिक दर्शन 32

प्रश्न : दर्शनों के श्रेणी विभाजन का सिद्धान्त बताइये?

उत्तर : समस्त दर्शनों को सिद्धान्त की दृष्टि से निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है- 1. आस्तिक दर्शन, 2. नास्तिक दर्शन, 3. आस्तिक नास्तिक दर्शन।

आस्तिक दर्शन- वेदो में आस्था रखने वाले तथा ईश्वर की सत्ता मानने वाले तथा पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। ये दर्शन छ: बताये गए हैं- 1. गौतम का न्याय दर्शन, 2. कणाद का वैशेषिक दर्शन, 3. पतंजलि का योग दर्शन, 4. कपिल का सांख्य दर्शन, 5. जैमिनी का मीमांसा दर्शन तथा 6. व्यास का ब्रह्मसूत्र या वेदांत दर्शन।

नास्तिक दर्शन- चार्वाक विशेष रूप से पूर्णनास्तिक दर्शन है। यह ईश्वर वेद एवं पूनर्नजन्म में विश्वास नहीं करता। केवल वर्तमान को ही मानता है। जब तक जीवन है, सुख प्राप्ति के लिए उधार करके भी घी पी लो यह शरीर पुन: नहीं मिलेगा। अत: इसे नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है।

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत ऋणंकृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जब तक जीवो सुखपूर्वक जीवो, आवश्यकता हो तो उधार लेकर भी घी पी जावो, कौन जाने यह भस्मीभूत शरीर पुन: आयेगा या नहीं।

आस्तिक नास्तिक दर्शन - जो वेद का अनुसरण नहीं करते उनके अन्तर्गत जैन, बौद्ध आदि दर्शन आते हैं। किन्तु जो दर्शन आत्मा, मोक्ष, स्वर्ग, परमात्मा आदि को मानने से आस्तिक एवं सृष्टि उत्पत्ति के भिन्न सिद्धान्त व नास्तिकों के पक्ष का समर्थन तथा अवैदिक होने से नास्तिक भी कहे जाते हैं। इसी कारण इन्हें आस्तिक-नास्तिक दर्शन कहते हैं।

प्रश्न : षड् दर्शनों का नाम एवं उनका सामान्य परिचय दीजिए?

उत्तर : भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन कराने वाले एवं आध्यात्मिक विचारधारा का जीवन के साथ विवरण प्रस्तुत करने वाले प्रमुख छ: विद्वान् हुए हैं जिनके सिद्धान्तों को ग्रन्थ का स्वरुप देने पर ये छ: दर्शन कहे गए।

महर्षि कपिल	–	सांख्य दर्शन
महर्षि पतंजलि	–	योग दर्शन
महर्षि जैमिनि	–	मीमांसा दर्शन
महर्षि बादरायण व्यास	–	वेदान्त दर्शन
महर्षि कणाद	–	वैशेषिक दर्शन
महर्षि गौतम	–	न्याय दर्शन

प्रश्न : षड़ दर्शनों का परिचय दीजियें?

उत्तर : सांख्य दर्शन परिचय: इस दर्शन के कर्ता महर्षि कपिल भारतीय संस्कृति की अतीत परम्परा के पूर्वज व्यक्तियों में गिने जाते हैं। स्वयं गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि **''सिद्धानां कपिलो मुनिः''**

प्रमुख सिद्धान्त – सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों में समस्त जगत् की मूल प्रकृति, ज्ञान के साधन भूत प्रमाण, **''दुःख त्रयाभिघात''** से सर्वदा निवृत्ति एवं मोक्षप्राप्ति, चौबीस तत्वों का वर्णन, पुरुष की व्याख्या, परिणामवाद, त्रिगुण की विशेषता, सत्कार्यवाद तथा बन्ध एवं मोक्ष के विशेष सिद्धान्त बताते हुए संसार के स्वरूप की सुन्दर व्याख्या की है। समस्त संसार की मूल प्रकृति एक है, यही अविकसित या अदृश्य अव्यक्त हैं। यह तीन गुणों का योग है। ये तीनो सत्व, रज व तम असंख्य सक्रिय तत्वों के समुदाय हैं।

यथार्थ ज्ञान के साधन तीन प्रमाण हैं। कार्यकारण के भाव को व्यक्त करने के लिए सत्यकार्यवाद का निरूपण किया है। अर्थात् सत् कारण से सत्कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। यह जगत् 24 तत्वों का एक स्वरूप है। यह संसार स्वयं बन्धन है। इसी बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष है। यही जीवन मुक्ति है। सांख्य के ये मुख्य सिद्धान्त है।

प्रश्न : योग दर्शन परिचय अपने शब्दों में लिखे?

उत्तर : महर्षि पतंजलि ने अपने समय में जितने योग सूत्र थे, उनका संयोजन किया था। पतंजलि द्वारा व्यवस्थित योग जिसे साधारणतया राजयोग कहते हैं मुख्य रूप से मन एवं शरीर सम्बन्धी है। इसमें चित्त को इस प्रकार संयमित किया जाता है कि यह अपनी सामान्य वृत्तियों को छोड़कर आध्यात्मिक गुणों को ग्रहण करता है। प्रकृति से अपने को मुक्त कर देता है और आध्यात्मिक गुणों को ग्रहण करता है।

योगस्तु चित्तवृत्ति निरोधः

यह ग्रन्थ चार पादों में विभक्त किया गया है। **प्रथम पाद** में योग इसका उद्देश्य एवं अन्त तक विवरण चित्त का ज्ञान एवं समाधि का वर्णन होने से समाधि पाद नाम दिया गया है।

द्वितीय पाद में प्रायोगिक पक्ष, योग के प्रेरक तत्त्व अभ्यास के लिए प्रारम्भिक तैयारी एवं प्रयोग का वर्णन होने से यह साधना पाद है।

तृतीय पाद में पहले बताये प्रयोग एवं विधियों के साथ साधना के आध्यात्मिक एवं ऐहिक लाभों का भी वर्णन किया गया है। इसमें सिद्धियों का एवं उपसिद्धियों का वर्णन होने से इसे विभूतिपाद कहते है।

चौथे पाद में, चित्त, तृष्णा, अहंभाव, मन, वासना, मोक्ष का स्वरूप और जीवात्मा पर विचार किया गया है जिसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्त कराना है। इसलिए इसे कैवल्य पाद कहा गया है।

योग दर्शन का उद्देश्य है कि योग द्वारा मनुष्य का कार्य पंचविध क्लेशों और नाना प्रकार के कर्मफलों से विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना है। इसमें चित्त की पांच वृत्तियां बताई गई हैं। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र जिनका नाम वहां चित्तभूमि है।

योग के अनुसार यह संसार दुःखमय है, इस जीवात्मा के मोक्ष का एकमात्र उपाय योग दर्शन है। ईश्वर नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।

योग का आयुर्वेद में महत्व : शरीर स्वास्थ्य के लिए इन्द्रियों का नियन्त्रण आवश्यक है तथा इनका नियन्त्रण मन के अधीन है। योग द्वारा मन पर नियन्त्रण किया जा सकता है अतः शरीर स्वास्थ्य हेतु योग दर्शन का बहुत महत्व है।

कुछ आयुर्वेद ग्रन्थ तो यहां तक लिखते है कि व्याकरण, योग दर्शन एवं आयुर्वेद के चरक जैसे ग्रन्थ के रचयिता एक ही हुए हैं। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य शरीर को स्वस्थ रखते हुए मोक्ष प्राप्ति करना है। योग द्वारा ही सुख एवं वेदनाओं पर नियन्त्रण किया जा सकता है चरक में लिखा है :

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानांमवर्तनाम। च.शा.
मोक्षेनिवृत्तिनिःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तक।

प्रश्न : अपने शब्दो में मीमांसा दर्शन का परिचय दे?

उत्तर : जैमिनि मीमांसा दर्शन के संस्थापक हैं। वैदिक संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र के भी रचयिता जैमिनि माने जाते हैं। दर्शन सिद्धान्तों के अतिरिक्त इन्होंने फलित ज्योतिष की एक पुस्तक भी लिखी है।

मीमांसा में लगभग 3000 सूत्र हैं, जिनमें धर्म तथा उससे सम्बन्धित बातों पर विचार किया गया है। ग्रन्थ में एक हजार अधिकरण हैं, जिन्हें साठ पादों में बांटा गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल 12 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। तीसरे छठे एवं दशवें अध्याय में आठ-आठ पाद हैं। इसलिए इस ग्रन्थ को द्वादशलक्षणी भी कहा गया है।

इस दर्शन के सिद्धान्त- विचार मीमांसा शास्त्र में आत्मा का किया गया है। वर्णन न्याय वैशेषिक के समान ही है, इसके धर्म का ध्येय है स्वर्ग प्राप्ति। साधारण लोग स्वर्ग को ही परम पद समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह सर्वथा सत्य है। इन बातों को देखते हुए मालूम होता है कि मीमांसा शास्त्र व्यावहारिक दर्शन है।

मीमांसा में शक्ति, सादृश्य एवं संख्या को भी भिन्न पदार्थ माना गया है। (प्रभाकरमत) द्रव्यों की संख्या 9 बताई है। प्रत्यभिज्ञा से वायु को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। जरायुज, अण्डज तथा स्वेदज तीन प्रकार के शरीर स्वीकार किये हैं। वृक्षादि का उद्भिज्ज शरीर स्वीकार नहीं किया है, अत: अन्य से भिन्नता है।

आत्मा को ज्ञानाश्रय माना है, तम को कोई पृथक् द्रव्य स्वीकार नहीं किया है। वैशेषिक ने स्वीकार किये 24 गुणों में संख्या, विभाग, पृथक्त्व तथा द्वेष को हटाकर उनके स्थान पर वेग का समावेश कर गुण 21 ही बताये हैं। कर्म को प्रत्यक्षगोचर न मानकर अनुमेय कहा है।

कुमारिल भट्ट ने भाव एवं अभाव दो प्रकार के पदार्थ माने हैं अभाव चार प्रकार का स्वीकार किया है। द्रव्यों में अंधकार एवं शब्द को स्वीकार करते हुए द्रव्यों की संख्या 11 बताई है। इस दर्शन में भाट्ट, गुरु एवं मुरारि तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

प्रश्न : वेदांत दर्शन (उत्तर मीमांसा) का वर्णन करें?

उत्तर : आस्तिक दर्शनों में वेदान्त को सर्वाधिक आस्तिक कहा गया है। उपनिषद् वेद के ज्ञान काण्ड हैं तथा वेदान्त दर्शन इन्हीं उपनिषदों पर आधारित है।

वेदान्त सूत्रों के प्रणेता बादरायण व्यास हैं। इन्हीं को कृष्णद्वैपायन तथा वेदव्यास भी कहा गया हैं, इनकी गणना आठ चिरजीवियों में की गई है। परम्परा के अनुसार वेद के विभाग भी इन्हीं ने किये हैं, महाभारत एवं पुराणों की रचना भी इन्हीं ने की है।

वेदान्त का स्वरूप : वेदान्त दर्शन को कुछ और भी नाम दिये गए हैं। 1. ब्रह्म वर्णन ने इसे ब्रह्म सूत्र, 2. आत्मा से सम्बन्ध होने के कारण शारीरिक सूत्र, 3. सन्यासियों को इसका अधिकारी माने जाने से भिक्षु सूत्र तथा 4. उत्तर मीमांसा सूत्र भी इसका एक नाम हैं।

विषय : वेदांत सूत्र में 555 सूत्र प्राप्त होते हैं। इनमें प्रथम 4 सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें समस्त दर्शन सार है। 1. **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा,** ब्रह्मविषयक जिज्ञासा। 2. संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय भी इसी ब्रह्म के द्वारा बताया गया है-**''जन्माद्यस्य यत:''।** 3. तीसरे सूत्र के दो अर्थ हैं ब्रह्म शास्त्र का मूल है तथा शास्त्र ब्रह्मज्ञान का कारण है। **''शास्त्रयोनित्वात्''** 4. चतुर्थ सूत्र में उपनिषद् वाक्यों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्म को ही परम सत्य सिद्ध करते हैं। **''तत्तु समन्वयात्''।**

वेदान्त सिद्धान्त - 1. सत्ता एकमात्र ब्रह्म है तथा शांकर वेदान्त में सत्ता तीन प्रकार की है। पारमार्थिकी, प्रतिभासिकी तथा व्यावहारिकी।

2. विवर्तवाद की स्थापना - संसार की समस्त वस्तुओं को पानी के बुलबुले के समान मिथ्या समझना **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या''** ही विवर्त है।

वेदवाक्य है-

''वाचारम्भणं विकारो नामध्येयं मृतिकेत्येव सत्यम्''

3. अध्यास-मिथ्या ज्ञान को अध्यास कहते हैं। जैसे रज्जु (रस्सी) को सांप समझना।

4. ब्रह्म निर्विशेष तत्व है यही सर्वव्यापी एवं चेतन है।

5. अविद्या एवं माया- दोनों एक ही हैं, माया से ढका हुआ ब्रह्म ईश्वर तथा अविद्या से ढका ब्रह्म जीव कहलाता

है। रजोगुणी माया के द्वारा आत्मा क्रियाशील जान पड़ती है। इसी क्रिया के द्वारा संसार की उत्पत्ति होती है। अर्थात् माया से ढका चैतन्य ही जगत् की उत्पत्ति में कारण है।

6. माया का स्वरुप- बहुत से वृक्षों के समूह को वन कहते हैं, यहां सभी एक समुदाय में हैं तथा पृथक् देखने पर वृक्ष अनेक दिखाई देते हैं। उसी प्रकार माया एक होते हुए भी अनेक है।

7. वेदान्त में भूतसृष्टि, ज्ञानेन्द्रिय उत्पत्ति, अन्त:करणों की उत्पत्ति, विज्ञानमय कोष एवं जीव, कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति, पांच प्रकार के प्राणादि कोष, सूक्ष्म शरीर, भूतों का पञ्जीकरण, स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का वर्णन किया गया है।

प्रश्न: वैशेषिक (उल्लूक) दर्शन के प्रमुख विषयों का परिचय दें?

उत्तर : वैशेषिक के लिए कहा गया है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा यह दर्शन विलक्षण होने के कारण वैशेषिक कहा जाता है। वस्तुओं की विलक्षण विश्लेषणात्मक पद्धति का किसी अन्य दर्शनों ने वर्णन नहीं किया है।

व्युत्पत्ति- ''विशेषपदार्थभेदमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्''

प्रत्येक पदार्थ के मूल में जो विशेष सत्ता होती है उसे परमाणु कहा जाता है। उसका ही विशेष वर्णन करने से यह वैशेषिक दर्शन है।

प्रस्तुत दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हुए। उनका यह नामकरण: कणभुक्, कणधर होने के कारण कणाद हुआ (अर्थात् भूमि से कण चुनकर खाने वाले) भगवान् शिव उल्लू के रूप में प्रकट होकर उपदेश दिये जाने के कारण ही यह **उल्लूक** दर्शन भी माना जाता है। इसका समय 400 ई० पूर्व बताया जाता है। न्याय की अपेक्षा वैशेषिक दर्शन इसलिए भी प्राचीन सिद्ध होता है कि वैशेषिक का पदार्थ शास्त्र न्याय से भिन्न है।

विषय वस्तु - इस वैशेषिक दर्शन में कुल 10 अध्याय है। प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निकों में विभक्त है।

इसके **प्रथम** अध्याय में पदार्थ विषयों की चर्चा की गई।

द्वितीय अध्याय में दिशा, काल एवं पंचमहाभूतों एवं समस्त भौतिक तत्वों के गुणों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय के दो आह्निकों में क्रमश: आत्मा एवं मन का विवेचन है। इसमें शरीर, इन्द्रिय उसके गुण, अनुमान, हेत्वाभास और प्रत्यक्ष ज्ञान के समस्त विषय, मन एवं आत्मा का अस्तित्व तथा उनकी पारस्परिक स्थिति का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में परमाणु स्वरूप उसके संयोग से निर्मित भौतिक शरीर तथा उनके सहकारी विषयों का वर्णन किया गया है।

पांचवे में दिशा, काल, आकाश तथा आत्मा की निष्क्रियता तथा अन्त में अन्धकार को द्रव्य नहीं मानते हुए तेज का अभाव बताया है।

छठे अध्याय के दोनों आह्निकों में वैदिक धर्म, दानधर्म तथा आश्रम धर्म का विवेचन किया गया है।

सातवें अध्याय में गुण और समवाय का वर्णन है। इसके प्रथम आह्निक में निरपेक्ष गुण की चर्चा की गई है और दूसरे आह्निक में सभी गुण और समवायों की चर्चा की गई है। अणु, महत्, ह्रस्व एवं दीर्घ, आकाश एवं काल का स्वरूप तथा पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन है।

आठवें अध्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन है। यहां इस प्रमाण के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों पक्षों को स्पष्ट किया गया है।

नौवें अध्याय में पदार्थों के अभिज्ञान की चर्चा है। असत्कार्यवाद अभाव, शब्द, उपमान, स्मृति, स्वरूप, अविद्या तथा विद्या का स्वरूप बताया है।

दसवें अध्याय में अनुमान एवं उसके भेदों का वर्णन किया गया है। सुख दु:ख का वर्णन, समवायि तथा असमवायि कारणों का विवेचन है।

संक्षेप में मुख्य सिद्धान्त-सप्त पदार्थों का विवेचन, पंचमहाभूत, परमाणुवाद, सृष्टि एवं संहार की प्रक्रिया, सृष्टि का कारण, आत्मा, मन, दिशा एवं काल, गुण, समवाय महत, अणु, प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण का विवेचन, अविद्या के भेद, अभाव

का वर्णन, तम का निराकरण, असत्कार्यवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, कारण के भेद आदि का वर्णन है। इसके सिद्धान्त भी आयुर्वेद के सिद्धान्तों के समान ही प्रतीत होते हैं। अतः यह आयुर्वेद के अधिक निकट है।

प्रश्न : न्याय दर्शन के मुख्य सिद्धान्त बताइयें?

उत्तर : न्याय दर्शन का अर्थ है न्याय सम्मत तर्क, जिसका उद्देश्य है सत्य ज्ञान प्राप्त कर इच्छित परिणाम पर पहुंचना। अक्षपाद गोतम इसके रचयिता है।

न्याय के मुख्य विषय : सम्पूर्ण न्याय सूत्र 5 अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं।

प्रथम अध्याय में न्याय के 19 पदार्थों का नाम तथा प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों का वर्णन किया गया है। न्याय सूत्र में निःश्रेयससिद्धि (मोक्ष) के लिए सोलह उपायों का वर्णन किया है जिन्हें पदार्थ कहा गया है।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन का इसी **प्रथम अध्याय** में परिचय दिया गया है। ज्ञान मीमांसा एंव तर्क विद्या में इनका विशेष महत्व है।

दूसरे अध्याय में भी दो आह्निक हैं। प्रथम में संशय की परीक्षा के बाद चार प्रमाणों एवं पदार्थ एवं काल की भी परीक्षा की गई है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, व्याप्ति, आकृति और जाति के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की शंकाओं का युक्तियुक्त समाधान है दूसरे आह्निक में अन्य प्रमाणों का विवेचन तथा वर्ण, पद तथा पदार्थों के विषय की चर्चा है।

तीसरे अध्याय के प्रथम आह्निक में चार विषयों की चर्चा है आत्मा, शरीर इन्द्रिय और अर्थ (पञ्च महाभूतों के गुण) तथा दूसरे आह्निक में बुद्धि और मन की परीक्षा है पुण्य एवं पाप के कारण विशिष्ट देह संयोग का विचार है। इसी में आत्मा आदि 12 प्रमेयों का विस्तार से वर्णन है।

चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रकृति, प्रेत्यभाव, फल, दुःख से मुक्ति की परीक्षा की गई है। दूसरे आह्निक में पूर्ण पदार्थों की परीक्षा, परमाणुओं की अविभाज्यता पर विचार तथा पदार्थों के खण्डन पर विचार।

पांचवें अध्याय में जाति एवं निग्रहस्थान के भेद एवं लक्षण बताये गये हैं।

अन्य विषयों में मोक्ष प्राप्ति के लिए पदार्थ ज्ञान की आवश्यकता, ईश्वर विचार, आत्मा की युक्तियां, कर्तव्य सिद्धि, वेदों की प्रामाणिकता, ईश्वर विरोधी शंका समाधान/प्रमाण, कार्यकारण भाव पर विचार तथा प्रमाणों की सार्थकता आदि विषयों पर पूर्ण विचार किया गया है।

प्रश्न : भारतीय दर्शन में किन दर्शनों का आयुर्वेद पर विशेष प्रभाव है उनका वर्णन करें?

उत्तर : न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा योग इनके स्वतन्त्र परिचय में विशेषता का वर्णन किया गया हैं तथापि यहां आयुर्वेद के साथ सम्बन्ध एवं लोक व्यवहार की दृष्टि से जीवन का सार-असार विशेष युक्तियों द्वारा बताते हुए मोक्ष प्राप्ति के सुगम उपायों का वर्णन किया गया है। लौकिक व्यवहार (नित्य क्रिया) करते हुए इनके सूत्रों को अपना कर बिना प्रयत्न एवं श्रम के मोक्ष प्राप्ति के उपायों पर बल दिया है इनमें व्यावहारिक ज्ञान तथा शरीर स्वास्थ्य के मूल स्तम्भों तथा प्रमाणों से उनके सिद्धि के साधनों का भी वर्णन किया गया है। आयुर्वेद ग्रन्थ न्याय वैशेषिक एवं सांख्य सिद्धान्तों को विशेष रूप से जहां तहां अपनाते हैं अतः इनका विशेष महत्व है। आयुर्वेद प्रायः दार्शनिक सिद्धान्त इन दर्शनों के सूत्रों से मिलता हैं तथा दोनों का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति कराना होने से एकरूपता दिखाई देता है।

(विशेष वर्णन के लिए लेखक का पदार्थ विज्ञान पढ़े)

प्रश्न : आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दार्शनिक विचारधारा है सिद्ध करें?

उत्तर : संहिताओं में आयुर्वेद के विद्वानों ने दर्शनों का यथासम्भव उपयोग किया है तथापि आयुर्वेद के स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त हैं जो व्यवहार एवं मौलिक दृष्टि से परिपूर्ण हैं।

1. आयुर्वेद में वर्णित सृष्टिक्रम, दर्शन ग्रन्थों में वर्णित सृष्टिक्रम के समान होते हुए भी आयुर्वेदीय सृष्टि क्रम में कुछ विशेषताएं हैं। आयुर्वेद में इन्द्रियों को आहंकारिक न मानकर भौतिक माना हैं।

2. पदार्थों की गणना क्रम में द्रव्य से प्रारम्भ नहीं करते हुए सामान्य से प्रारम्भ किया है।

3. आयुर्वेद में अभाव को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि आयुर्वेद में तो शरीर में रोग अभाव सदैव चाहते हुए स्वास्थ्य की कामना की है। अत: षड् पदार्थों को स्वीकार किया तथा परोक्ष में अभाव को महत्व दिया है।

4. अन्य दर्शनों में गुणों की संख्या 24 तक स्वीकार की है जबकि आयुर्वेद में चिकित्सा उपयोग के स्पष्टीकरण की दृष्टि से 41 गुणों का वर्णन किया है।

5. प्रमाणों की संख्या तीन ही स्वीकार करते हुए भी अन्य प्रमाणों का भी यथावश्यक एवं यथास्थान वर्णन किया है।

6. जिन विषयों का अन्य दर्शनों में मोक्षप्राप्ति एवं आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति के लिए ही वर्णन किया है आयुर्वेद में व्यावहारिक दृष्टि से उनका पूर्ण विवेचन किया है।

7. इस जगत् एवं शरीर की तुलना करते हुए **''पुरुषोऽयं लोकसम्मित:''** का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जो-जो भाव विशेष इस संसार में हैं वे सभी इस शरीर में भी हैं। इसी सिद्धान्त पर कि **''सामान्यमेकत्वकर''** एवं **विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्** तथा उभय प्रवृत्ति के द्वारा ही भावों में न्यूनता एवं वृद्धि होने पर समानता लाई जा सकती है। जो स्वास्थ्य का पहला सिद्धान्त है। आयुर्वेद दर्शन व्यावहारिक दर्शन होते हुए भी मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के शरीर को स्वस्थ रखने का पूर्ण उपाय बताने वाला दर्शन है।

प्रश्न : आयुर्वेद एवं आयु के लक्षण तथा आयु की परिभाषा एवं प्रकार लिखें।

उत्तर : प्रमुख रूप से आयुर्वेद शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है-आयु एवं वेद। इनमें आयु का अर्थ है जीवन तथा वेद शब्द विद् धातु से बनता है-अत: विद् ज्ञान के अनुसार जानना, ज्ञान करना या विचार करना अर्थ होता है। अत: संयुक्त अर्थ हुआ जो शास्त्र आयु की सम्पूर्ण सत्ता का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहते हैं।

निरुक्ति :

1. आयुर्विन्दति इति आयुर्वेद:।

2. आयुर्विन्दति वेति च।

जो शास्त्र आयु का ज्ञान कराने वाला हो उसे आयुर्वेद कहते है।

3. आयुर्विद्यतेस्मिन आयुर्वेद : जिसमें आयु का ज्ञान हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

आयुर्वेद की परिभाषा :

हिता हितं सुखं दु:खं आयुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेद स उच्यते।।

जिस शास्त्र में हितायु, अहितायु, सुखायु एवं दु:खायु इन चार प्रकार की आयु का वर्णन तथा आयु के लिए हितकर एवं अहितकर द्रव्य गुणादि के मान का वर्णन किया गया हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

प्रश्न : आयु के लक्षण, परिभाषा एवं प्रकार बताइये?

उत्तर : आयु परिभाषा : मन एवं आत्मा का इन्द्रियों सहित शरीर के साथ जितने समय तक संयोग बना रहता है उस समय या काल को आयु कहते हैं।

आयु लक्षण : शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोग: जीवितम् (आयु०) च.सू.1

शरीर इन्द्रिय मन और आत्मा के संयुक्त रूप को जीवित या आयु कहते हैं।

आयु के प्रकार : यह आयु चार प्रकार की होती है। 1. सुखायु, 2. दुखायु, 3. हितायु, 4. अहितायु। जन्म लेने के पश्चात् किस व्यक्ति की आयु उसके शरीर निर्माण एवं क्रियाकलापों से हितकर, अहितकर, सुखी एवं दु:खी हो यही आयुर्वेद का स्वरूप एवं प्रकार है।

1. धारि शरीर को सड़ने गलने से रोकने वाला तथा शरीर को धारण करने वाला होने से ही धारि कहा गया है।

2. जीवित प्राणों को धारण जीवित रखने वाला होने से जीवित नाम दिया है।

3. नित्यग् अर्थात् नित्य प्रति प्राणियों की आयु गति करती है या चलती रहती है, इसलिए इसे नित्यग कहा गया है।

4. अनुबन्ध अर्थात् आयु का शरीर के साथ सम्बन्ध अथवा शरीर में आत्मा के साथ अनुबन्ध रहता है। अत: अनुबन्ध कहा गया है।

आयु के भेद : आयु के प्रमुख चार प्रकार बताये गये हैं।

1. हितायु, 2. अहितायु, 3. सुखायु, 4. दु:खायु।

1. सुखायु : जो आयु शरीर एवं मन को सुख (आरोग्य) प्रदान करे वह सुखायु होती है।

2. दु:खायु : जो आयु शरीर को दु:ख या कष्ट (रोग) दे वह दु:खायु होती है।

3. हितायु : जिस आयु से समाज एवं देश का हित हो वह हितायु है।

4. अहितायु : जिस आयु से समाज परिवार, समाज एवं देश का अहित हो उसे अहितायु कहा जाता है।

प्रश्न : सिद्धान्त के लक्षण एवं परिभाषा लिखें?

उत्तर : सिद्धान्तोनाम स य: परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णय: (च०वि०8)

जिन पदार्थों की अनेक बार परीक्षणों द्वारा परीक्षा करके तथा अनेक माध्यमों द्वारा सिद्ध करके जो स्थायी निर्णय लिया जाता है उसे सिद्धान्त कहते हैं।

परिभाषा : शास्त्रार्थ एवं परीक्षणों द्वारा किसी विषय पर निर्णय किये गये तथ्य को सिद्धान्त कहते हैं।

प्रश्न : सिद्धान्त के प्रकार स्पष्ट करें?

उत्तर : शास्त्र की दृष्टि से सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं।

1. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, 2. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, 3. अधिकरण सिद्धान्त, 4. अभ्युपगम सिद्धान्त।

सर्वतन्त्र सिद्धान्त : सिद्धान्त का जो सूत्र सभी शास्त्रों में सर्व सम्मति से प्रसिद्ध हो वह सर्व तन्त्र सिद्धान्त कहलाता है-जैसे आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में रोग निदान, व्याधियां तथा साध्य रोगों की चिकित्सा के उपाय को सर्व सम्मति से स्वीकार किया है अत: यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहलाता है। अत: जिस सिद्धान्त एवं सूत्र पर मतभेद न होकर सभी की एक राय हो वह सर्वतत्र सिद्धान्त कहलाता है।

प्रतितन्त्र सिद्धान्त : अन्य किसी सूत्र, तत्व या विषय पर शास्त्रों में भिन्न-भिन्न मत हो तब उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे चरक में रस छ: बताये है मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय जबकि धामार्गव में क्षार एवं अव्यक्त सहित 8 बताये हैं-चरक में दोष तीन ही बताये हैं जबकि सुश्रुत ने रक्त को भी दोष स्वीकार किया है। चरक ने अव्यक्त से 24 तत्व तथा प्रकृति पुरुष को पृथक मानते हुए सुश्रुत ने 25 तत्व बताये हैं। यह प्रति तन्त्र सिद्धान्त कहलाता है।

अधिकरण सिद्धान्त : शास्त्रार्थ में जिस विषय का प्रकरण चल रहा हो उसके द्वारा दूसरे अधिकरण का भी ज्ञान हो जाना अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। जैसे वह दिन में भोजन नहीं करता किन्तु स्वस्थ है अत: यह ज्ञान भी हो गया कि रात में भोजन करता है। दूसरे शब्दों में मुक्त पुरुष या निष्काम कर्म योगी शुभाशुभ कर्मों को नहीं भोगता है उसे लोक एवं परलोक फल प्राप्ति की इच्छा नहीं होती। इससे यह भी पता चला कि कर्म फल होता हैं

अभ्युपगम सिद्धान्त : वादी एवं प्रतिवादी द्वारा शास्त्रार्थ में जब बताया गया सिद्धान्त खण्डित नहीं हो जाता तब तक उसके सिद्धान्त को मानना अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। जैसे द्रव्य अपने रस के द्वारा कार्य करता है यह सिद्धान्त है किन्तु एकीय मत से सिद्ध नहीं होता इसके लिए प्रतिवादी कहता है कि कहीं गुण से, कहीं वीर्य से, कहीं विपाक से एवं कहीं प्रभाव से भी द्रव्य कार्य करता है। जब तक यह तथ्य सामने नहीं आता वादी का सिद्धान्त अभ्युपगम्य होता है।

किसी विषय पर दिये गये तर्क को उसके खण्डन होने से पूर्व तक मानना अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है।

यह शास्त्रार्थ का विषय है जो प्रस्तुत सिद्धान्त को सभी कालों में सिद्ध करने के उपयोग में प्रयुक्त होता है।

प्रश्न : धातु साम्य प्रक्रिया से क्या समझते हैं?

उत्तर : जिस व्यक्ति के त्रिदोष, त्रिगुण, शरीर की धातुओं तथा अग्नि बल के सम हो उस व्यक्ति को स्वस्थ कहते हैं तथा विषम होना ही तो रोग है। अत: धातुसाम्य प्रक्रिया हेतु सामान्य विशेष रूप दो सिद्धान्तों की स्थापना की गई। बढ़े हुए दोषों का विशेष पदार्थों द्वारा ह्रास किया जाता है। क्षीण भावों की समान द्रव्य के द्वारा वृद्धि की जाने का उपदेश किया है। महर्षि चरक लिखते है कि पांच भौतिक सृष्टि में जो-जो भाव लोक में है उन्हीं भावों की शरीर में स्थिति देखी जाती है अत: दोष धातु, अग्नि आदि के क्षीण होने पर तद्तद् भौतिक संगठन युक्त सामान्य पदार्थों के प्रयोग से क्षीणता दूर करते हैं एवं वृद्धि होने पर उनके विपरीत विशेष पदार्थों द्वारा विषमता को दूर किया जाता है। यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

धातुसाम्य प्रक्रिया से सप्त धातुओं का ही ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु धारणात् देह धातव: से उनके सभी मूलभूत उपादान तत्वों का भाव प्रकट होता है जिनके सहयोग से शरीर निर्माण, वृद्धि एवं संचालन होता है। ये त्रिदोष, मल, पञ्चमहाभूत आदि अपनी नियमित समावस्था में रहे, इसलिए सभी भावों की ओर संकेत करते हुए ही लिखा है -

प्रश्न : आयुर्वेद (चिकित्सा) का अधिष्ठान क्या हैं?

उत्तर : शरीर मन एवं आत्मा के संयुक्त रूप को त्रिधातुक शरीर कहा जाता है। चूंकि आत्मा तो निर्विकार है वह रोग का आश्रय नहीं है। अत: रोग के आश्रय मन एवं शरीर है जिसका ज्ञान चिकित्सक को होना आवश्यक है।

सुश्रुत ने पंचमहाभूत एवं आत्मा के समवाय को पुरुष बताया है। यही कर्म पुरुष है। इसी में चिकित्सा की क्रिया सम्पन्न होती है, क्योंकि चिकित्सा का यही अधिष्ठान है। अर्थात् हमें शरीर को स्वस्थ रखने के लिए एवं रोग निवारण के लिए आयुर्वेद की आवश्यकता होती है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप चार में तीन जीवन श्रेणियों को पार कर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में प्रवृत होने तक शरीर को स्वस्थ रखना पड़ेगा। किन्हीं कारणों से रोग हो गये तो उनका निवारण भी करना होगा। अत: आयुर्वेद चिकित्सा का अधिष्ठान षडधातुज पुरुष है, जिसका आयु पर्यन्त स्वस्थ रखना आयुर्वेद का पूर्ण प्रयोजन है।

प्रश्न : आयुर्वेद में त्रिसूत्र क्या है?

उत्तर : **हेतुलिंगौषघज्ञानं स्वस्थातुर परायणम्।**
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामह:॥ (चरक सू० 1)

पूर्व में हुए ऋषि समागम के निर्णय के अनुसार महर्षि भरद्वाज ने इन्द्र के पास जाकर जो ज्ञान प्राप्त किया वह त्रिसूत्र आयुर्वेद था। अर्थात् स्वस्थ और आतुर के लिए उत्तम मार्ग दर्शन करने वाला हेतु (निदान), लिंग (लक्षण) और औषध ज्ञान रूप त्रिसूत्र आयुर्वेद नित्य पुण्य देने वाला है तथा जिसे पितामह ब्रह्मा जी ने स्वंय जाना तथा उस आदि एवं अन्तरहित सम्पूर्ण आयुर्वेद का भरद्वाज को उपदेश दिया। भरद्वाज ने जैसा उपदेश सुना उसी रूप में आत्रेय आदि महर्षियों को उपदेश किया। इन्हीं पर चिकित्सा आधारित है।

हेतु सूत्र : रोग उत्पन्न करने वाले कारणों को हेतु कहा जाता है। अर्थात् प्रथम यह ज्ञान होना आवश्यक है कि रोग किन कारणों से उत्पन्न हुआ है। इन कारणों में काल, अर्थ एवं कर्म इन तीनों की प्रमुखता है-इन तीनों का आगे परिचय दिया जायेगा। रोग को उत्पन्न करने वाले सभी कारणों को हेतु कहते हैं।

लिंग सूत्र : सामान्य अर्थ में लिंग, लक्षण या चिन्ह को कहा जाता है अर्थात् जिन लक्षणों द्वारा रोग का ज्ञान हो, अत: व्याधि जानने के समस्त उपायों को लिंग कहा जाता है। इन्हें पांच एवं आठ रूपों में व्यक्त किया गया है।

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पंचधा स्मृतम्॥ (माधव)

अर्थात् : निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, एवं सम्प्राप्ति के पांच व्याधि ज्ञान के साधन है। इसी प्रकार अन्य साधनों एवं लक्षणों द्वारा रोग की जानकारी प्राप्त हो वही लिंग सूत्र का भाव हैं।

औषध सूत्र : चिकित्सा की दृष्टि से औषध प्रयोग द्वारा शरीर भावों की स्थिति सम की जाती है। औषध अपने विभिन्न गुण धर्म के प्रभाव से अनेक रोगों को शमन करती है। औषध के प्रयोग में भी चिकित्सा, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित, प्रशमन्, प्रकृतिस्थापन एवं हित आदि नामसे इसी रोग निवारक गुण को व्यक्त करते हैं। उत्पन्न हुए रोगों को दूर करने वाले औषध योग एवं विभिन्न उपाय औषध सूत्र के अन्तर्गत आते हैं।

प्रश्न : आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों की दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या है एवं आयुर्वेद के मुख्य उद्देश्य लिखें?

उत्तर : अनेक दर्शनो के सिद्धान्तों को आयुर्वेद में शरीर को स्वस्थ रखने एवं रोग दूर करने के लिए स्थान स्थान पर अपनाया है। आयुर्वेद के अवतरण से पूर्व महर्षि दार्शनिक तत्वों के आधार पर अपना आध्यात्म सम्पादन करते थे। जब नित्य क्रिया में विघ्न देने वाले रोग उत्पन्न हुए तब विश्व स्तर की संगोष्ठी का आयोजन किया गया। महर्षि भरद्वाज इन्द्र के पास गये एवं त्रिसूत्र आयुर्वेद लेकर आये, तब महर्षियों ने इन तीन सूत्रों को प्रयोग मे लाने के लिए दर्शन के तत्वों का उपयोग किया। शरीर रचना, शरीर क्रिया, निदान एवं चिकित्सा में उपयोगी सूत्रों एवं औषधियों की खोज की गई। दर्शन के 6 तत्वों के द्वारा यह ज्ञान किया कि शरीर पांच भौतिक है। अत: इसमें होने वाले क्षय वृद्धि एवं विकार को दूर करने वाले साधन भी पांच भौतिक ही होने चाहिए। संसार के समस्त सजीव निर्जीव पांच भौतिक है अत: तृण, मिट्टी, धातु एवं वनस्पतियां भी पांच भौतिक होने से इनका उपयोग किया जाना आवश्यक था। स्वस्थ रहने के लिए ऋतु के अनुरूप समय पर परिमित एवं उपयोगी आहार लेते हुए तथा विहार एवं आचार का पालन करते हुए जहां थोड़ी सी चूक हुई वहीं शरीर की दोष धातुओं का सन्तुलन सम नहीं रहने से रोग उत्पन्न हुए। अत: समस्त वनस्पतियों में से जो सामान्य थी प्रयोग के द्वारा उनकी विशेषता (रोग निवारणता) का पता लगाया यह ज्ञान उसके गुणों के द्वारा हुआ, गुण का ज्ञान कर्म अर्थात् प्रयोग करने से हुआ एवं प्रयोग समवाय सम्बन्ध के कारण किया गया।

आयुर्वेद के मुख्य दो उद्देश्य है : पारलौकिक एवं इहलौकिक-इसमें व्यक्ति को धर्म अर्थ तथा काम एवं मोक्ष प्राप्ति कराना प्रथम उद्देश्य तथा दूसरा उद्देश्य है इन चारों की प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ रखना। इसके लिए स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोग उत्पन्न होने पर रोग को दूर करना।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जो जो मूलभूत सिद्धान्त बताये है-उनमें शरीर धारण करने वाले दोष, धातु एवं मलों को सम अवस्था में रखने के सभी तत्व मूल सिद्धान्त कहे जाते हैं- त्रिसूत्र-हेतु (कारण) लिंग, (लक्षण) एवं औषध-(चिकित्सा)

शरीर की विकृति के कारणों को जानना, लक्षण पहचानना एवं समय पर उचित चिकित्सा से सम करना है।

त्रिदण्ड : मन, आत्मा एवं शरीर के संयोग का नाम ही जीवन है। इन्हीं तीनों पर यह शरीर आधारित है।

तत्व : सृष्टि उत्पत्ति के 24 तत्वों का ज्ञान होना अर्थात् 8 प्रकृति एवं 16 विकारों के सहयोग अर्थात् 24 तत्वों से सजीव एवं निर्जीव की उत्पत्ति होती है।

त्रिगुण : सत्व, रज एवं तम अहंकार के तीन भेद होते हैं। इनसे प्राणियों की प्रकृति बनती है। इनमें रज एवं तम मन के दो दोष हैं।

त्रिदोष : वात पित्त एवं कफ तीन शरीर के दोष है। ये जब कुपित होते है तब शरीर के दूषित करते हैं जब सम रहते हैं तब शरीर को धारण करने से धातु रूप होते हैं तथा जब मलिन होकर शरीर को मलिन करते है तब मल रूप होते हैं।

धातु : शरीर के स्वरूप को बनाने एवं चलाने वाली सात धातुए हैं। रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थिा, मज्जा एवं शुक्र। इनके सम अवस्था में रहने से शरीर का धारण एवं पोषण होता है।

इसी प्रकार त्रिविध बल, त्रिविध रोग, रोग मार्ग, त्रिविध उपस्तम्भ, ऋतुचर्या, प्रमाण, त्रिविध वैद्य। षड् पदार्थ-द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य विशेष समवाय एवं 9 कारण द्रव्य-पञ्च महाभूत एवं मन, आत्मा, काल एवं दिशा ये समस्त आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त कहे गये हैं।

चरक के अनुसार पदार्थ वर्णन

प्रश्न : पदार्थों का शास्त्रीय दृष्टि से वर्णन करें?

उत्तर : आयुर्वेद में वैशेषिक दर्शन की तरह छ: पदार्थों का ही वर्णन किया है। इन्हीं छ: पदार्थों पर आयुर्वेद की चिकित्सा आधारित है। **महर्षि चरक ने पदार्थों का वर्णन** करते हुए लिखा है, कि सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म एवं समवाय छ: पदार्थों का मेरी दृष्टि से इस क्रम में रखना उचित हैं।

सामान्यं च विशेषश्च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिता:॥ (च.सू. 1/28/29)

अर्थात् सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय के आधार पर रोगी के विषम दोषों को सामान्य अवस्था में लाकर रोग दूर किया जा सकता है।

चरक द्वारा इन्हें क्रम से रखने का तर्क देते हुए लिखा है बिना गुण कर्म ज्ञान के सभी पदार्थ सामान्य होते है–ज्वर में गिलोय का प्रयोग कराया एवं ज्वर शान्त हो गया तब पता लगा कि यह द्रव्य ज्वर के लिए विशेष है, विशेषता गुण के आधार पर देखी गई, गुण का पता कर्म से लगा (खिलाने पर), कर्म एवं गुण द्रव्य में रहते हैं, पदार्थों का परस्पर समवाय सम्बन्ध है जैसे वनस्पति, अनाज आदि का शरीर से अतः सामान्य से विशेष, विशेष से गुण गुण का कर्म से गुण एवं कर्म से द्रव्य का तथा परस्पर सम्बन्ध से समवाय पदार्थ का स्पष्टीकरण होने से चरक ने यह क्रम रखा।

'सर्वदा सर्वभावनां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभस्य तु॥' (च.सू. 1/44)

अर्थात् सामान्य वृद्धि का कारण होता है तथा विशेष ह्रास का कारण माना जाता है। यह प्रक्रिया क्षीण एवं बढ़े हुए दोषों को सम करने हेतु वृद्धि एवं क्षय की क्रिया की जाती है। अतः उभय प्रवृत्ति क्रम आवश्यक है।

प्रश्नः षड् पदार्थों का परिचय दें?

उत्तर : **द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।**
समवायस्तथाभाव पदार्थाः सप्तःकीर्तिता।

आयुर्वेद एवं दर्शन ग्रन्थों में जिन पदार्थों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है वे सात हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव। अभाव को आयुर्वेद ने स्वीकार नहीं किया है। इस विषय में दार्शनिक एवं आयुर्वेद दृष्टिकोण का परिचय, पद एवं पदार्थ का विवेचन, पदार्थ का स्वरूप, पदार्थ के लक्षण, विभाजन, संख्या तथा भावाभाव पदार्थों का ज्ञान करना आवश्यक है।

आयुर्वेद एवं दर्शन दोनों में पदार्थों का वर्णन क्रम भिन्न है। जिससे ज्ञात होता है कि दर्शन केवल मात्र पारलौकिक सिद्धान्तों पर आधारित है एवं चरक अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु त्रिसूत्र आयुर्वेद का स्मरण करते हुए पदार्थों की गणना में विशेषता प्रकट करते हैं। द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध में रहने वाले गुण कर्मों के आधार पर ही सामान्य विशेष की पूर्व गणना की है।

आयुर्वेद के षट् पदार्थ वैशेषिक के ही समान है। अभाव को आयुर्वेद ने पृथक् मान्यता न देते हुए भाव पदार्थों की अनुपस्थिति के रूप में अभाव को स्वीकार किया है। आचार्य आत्रेय सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के विशेष प्रतिपादन से सांख्यवादी प्रतीत होते हैं। इतना होने पर भी इन्होंने अभाव को पदार्थ स्वीकार नहीं किया।

प्रश्न : पद एवं पदार्थ के लक्षण, परिभाषा, निरुक्ति एवं भाव तथा अभाव आदि रूपो में वर्गीकरण कीजिए?

उत्तर : पद निरुक्ति : पदं च वर्णसमूहः (तर्क भाषा)

शक्तं पदम् (सुश्रुत)

अर्थात् वर्णों के समूह को पद कहा जाता है। सुश्रुत के अनुसार जिसमें अर्थ बताने ही शक्ति हो वह पद कहलाता है।

सुप्तिङन्तं पदम्– व्याकरण के अनुसार सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है।

अथवा **''शक्तः साभिप्रायो वर्णो वर्णसमूहो वा पदम्।''**

इस वाक्य के अनुसार जो वर्ण या वर्णसमूह किसी अर्थ बताने की अभिप्राय सहित शक्ति रखता है, अर्थात् वह जो अर्थ बतावे उसका कोई अर्थ अवश्य निकलता हो उसे पद कहा जाता है।

पद परिभाषा : जिस वर्ण समूह में पदार्थ का सार्थक अर्थ बताने की शक्ति हो उसे पद कहा जाता है।

पदार्थ वर्णन :

पदार्थ शब्द की निरुक्ति : ''पद्यते गम्यते येनाऽर्थः स पदार्थः''

अर्थात् जिस वर्ण समूह में किसी विषय विशेष या अर्थ का ज्ञान हो उसे पदार्थ कहा जाता है।

प्रश्न : पदार्थ की परिभाषा, लक्षण एवं अर्थ बताइये?

उत्तर : परिभाषा : अस्तित्वात अभिधेयत्वात् ज्ञेयत्वानि जिसका अस्तित्व हो, जिसका कोई नाम हो तथा जो ज्ञान का विषय हो उसे पदार्थ कहते हैं।

पदार्थ लक्षण :

1. **पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः पदार्थः (सुश्रुत उ0त0)**
2. **अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् (तर्क दीपिका)**
3. **प्रमितिविषया पदार्था (सप्त पदार्थी)**
4. **पदप्रतिपाद्योऽर्थः पदार्थ (तात्पर्य टीका)**
5. **षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि (प्रशस्तपद)**
6. **युक्तं पदं पदार्थलक्षणम्।**
7. **पदजन्यप्रतीतिविषयत्वं पदार्थत्वम्।**

1. अर्थात् एक पद, दो पद या अनेक पदों के मेल को पदार्थ कहते हैं।
2. सभी नामधारी वस्तुओं को पदार्थ कहते हैं।
3. जो ज्ञान का विषय हो, उसे पदार्थ कहते हैं।
4. पद द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ (विषय) को पदार्थ कहते हैं।
5. छ:ओं पदार्थों में अस्तित्व, अभिघेयत्व (नाम वाला होना), एवं ज्ञेयत्व (ज्ञान का विषय होना) पाया जाता है अत: इन लक्षणों से इसे पदार्थ कहते हैं।
6. युक्त पद को पदार्थ कहते हैं।
7. अर्थ बतलाने वाले युक्त पद को पदार्थ कहते हैं।

पदार्थ शब्द का अर्थ : यह पदार्थ शब्द दो पदों से मिलकर बना है जिसमें एक 'पद' व दूसरा अर्थ है। वर्णों के सार्थक समूह को पद कहा जाता है तथा अर्थ विषय को कहते हैं। अत: दोनों मिलकर अर्थ हुआ 'वर्णों' के सार्थक समूह का विषय'। निरर्थक शब्दों के मिलाने से किसी प्रकार का अर्थ नहीं निकलता। अत: उन्हें पद या पदार्थ नहीं कहा जा सकता।

सभी नामधारी वस्तुएं जैसे राम, सीता, गाय आदि पदार्थ हैं क्योंकि इसका नाम, अस्तित्व एवं ज्ञान के विषय है।

प्रश्न : पदार्थ विभाजन का सामान्य परिचय दें?

उत्तर : समस्त पदार्थ दो प्रकार के बताये गए हैं। **भाव पदार्थ** और **अभाव पदार्थ।** चरक में पदार्थ के भेद करते हुए लिखा है कि विश्व में दो ही मुख्य विषय हैं सत्य और असत्य।

''**द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्चेति**'' (च0सू0 11/17)

भाव पदार्थ (Positive Substance) :

भाव को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि ने लिखा है-

सत्तामनुभवन्ति इति भावाः न तु उत्पद्यन्ते इति भावाः। (चक्रपाणि)

सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने वाले भाव होते हैं उत्पन्न होने वाले भाव नहीं होते हैं।

इन भाव पदार्थों को सांख्य एवं भावप्रकाश के अनुसार दो वर्गों में विभक्त किया गया है आश्रय एवं आश्रयी इनमें आश्रय देने वाले वे हैं जो अन्य पदार्थों को अपने पर आश्रित रखते हैं या शेष पदार्थ इन पर आधारित हैं इसी कारण ये आश्रय पदार्थ कहे जाते हैं। आश्रय पदार्थ द्रव्य, गुण एवं कर्म हैं।

शेष तीन सामान्य, विशेष और समवाय आश्रयी पदार्थ हैं, क्योंकि बिना द्रव्य, गुण, कर्म के या आश्रय पदार्थ से इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

अभाव पदार्थ (Negative Substance or non existence) :

संख्या की दृष्टि से सुश्रुत में लिखा है कि **'अपरिमिताश्च पदार्थाः'** अर्थात् पदार्थों की संख्या अपरमिति है। अत: असंख्य

पदार्थ बताये गए हैं। आयुर्वेद ने 7वें पदार्थ 'अभाव' को ग्रहण नहीं किया है। इसके अनेक कारण हैं-अतः भाव पदार्थ 6 ही है सामान्य, विशेष, गुण, कर्म द्रव्य एवं समवाय।

(विशेष विवरण के लिए लेखक का पदार्थ विज्ञान पढ़े)

अन्य भेद :

सात्म्य असात्म्य भेद : इस भेद के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के बताए गए हैं। 1. सात्म्य पदार्थ, 2. असात्म्य पदार्थ।

1. **सात्म्य पदार्थ**- प्रतिदिन के जीवन के लिए उपयोग में लाये जाने वाले वे पदार्थ जिनका सेवन करने से वे शरीर में पूर्ण रूप से पच जायें और किसी भी प्रकार कष्ट न उत्पन्न करें वे सात्म्य कहे जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सात्म्य पदार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं।

2. असात्म्य पदार्थ- जो पदार्थ शरीर में पूर्ण रूप से सात्म्य न हो सके और रोगों का कारण बनें, उन्हें असात्म्य पदार्थ कहते हैं।

सजातीय विजातीय भेद से- इसी प्रकार पदार्थों के भेद करते हुए सजातीय और विजातीय रूप भी दो भेद बताते हैं-

सजातीय पदार्थ- जो पदार्थ जिस व्यक्ति या वस्तु के लिए उपयोगी और आवश्यक हो तथा उसकी वृद्धि करता हो वह सजातीय होता है।

विजातीय पदार्थ- जो पदार्थ किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रतिकूल हो और वस्तु के संवर्द्धन, पोषण एवं प्रीणन में उपयोगी न हो उसे विजातीय पदार्थ कहा जाता है।

प्रश्न : चरक के अनुसार कारण पदार्थ का वर्णन कीजिए?

उत्तर : इत्युक्तं कारणम्-च0सू0 1/53

कारण पदार्थ-चरक में सभी कार्य समूहों के कारणों का निर्देश षड् पदार्थ रूप में किया है। जहां दर्शन शास्त्रों में द्रव्य, गुण, कर्म आदि को पदार्थ रूप में वर्णित किया है वहां चरक ने इन्हें कारण नाम से उल्लेख किया है-ये कारण पदार्थ छः होते हैं: 1. सामान्य, 2. विशेष, 3. द्रव्य, 4. गुण, 5. कर्म एवं 6. समवाय।

1. सामान्य - सदैव सभी भावों का वृद्धि करने वाला सामान्य होता है। यह एकत्व बुद्धि भी उत्पन्न करता है। यही कारण है, इसका कार्य वृद्धि करना है एवं एक जैसी वस्तुओं को मिलाना है।

2. विशेष-इस कारण का कार्य ह्रास करना है तथा दो वस्तुओं में यह पृथकता प्रकट करता है जैसे पशु एवं पक्षी।

3. समवाय कारण का कार्य सभी भावों को मिलाना है यह नित्य एवं आश्रय-आश्रित भी है। दो वस्तुओं के अटूट सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

4. द्रव्य-जिसमें कर्म एवं गुण आश्रित रहते हैं तथा जो कर्म एवं गुण का समवायि कारण है वह द्रव्य है।

5. गुण - जो समवाय सम्बन्ध वाला हो, स्वयं चेष्टा रहित हो एवं द्रव्य के आश्रित हो, वह कारण पदार्थ गुण होता है।

6. कर्म - जो संयोग विभाग का कारण हो, द्रव्य में आश्रित हो वह कर्म पदार्थ है। कर्म संयोग विभाग की नहीं केवल क्रिया की अपेक्षा रखता है।

इनमें उत्पत्ति योग एवं भेद की विशेष कारणता दृष्टिगोचर होने से चरक में इन्हें कारण पदार्थ कहा है।

इत्युक्तं कारणम्- इस प्रकार जगत के सभी समूहों के कारणों का चरक में निर्देश किया गया है। इनका विशेष वर्णन इनके पृथक्-पृथक् प्रकरणों में आगे दिया गया है।

प्रश्न : द्रव्य निरुक्ति, लक्षण, परिभाषा एवं द्रव्यों का कार्यकारण भेद से वर्गीकरण लिखियें?

उत्तर : दार्शनिक दृष्टि से पदार्थ गणना में द्रव्य प्रथम पदार्थ माना गया है। अन्य सभी पदार्थों की स्थिति इसी पर आधारित है किन्तु आयुर्वेद में सामान्य के प्रथम द्रव्यमान कर षड् पदार्थों का वर्णन किया है।

प्रश्न : द्रव्य की निरुक्ति, लक्षण एवं परिभाषा लिखें?

उत्तर : यह द्रव्य शब्द **''द्रु गतौ''** धातु में यत् प्रत्यय करने से बनता है जिसका अर्थ होता है **''द्रवति गच्छति परिणाममभिक्षणमिति द्रव्यम्''**। व्याकरण की दृष्टि से गति के तीन अर्थ लिये जाते हैं- ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति रूप। अतः जिससे परिणाम का ज्ञान हो, जो निरन्तर, गतिशील हो तथा परिणाम को प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार **''द्रवति गच्छति संयोगमिति द्रव्यम्''** निरुक्ति बताई गई है। (आयुर्वेदीय प० विज्ञान वैद्य रामकृष्ण ढण्ढ)

द्रव्य के लक्षण :

1. **यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्** (चरक सूत्र)
2. **द्रव्यलक्षणं तु-क्रियागुणवत् समवायिकारणम्** (सु०सू०)
3. **क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्** (वैशेषिक)
4. **रसादीनां पञ्चानां भूतानां यदाश्रयभूतं तद्द्रव्यम्** (भावप्रकाश, नागार्जुन)
5. **द्रव्यत्वं जातिमत्त्वं द्रव्यत्वम्** (निर्दुष्ट लक्षण)

1. जिसमें कर्म एवं गुण आश्रित रहें एवं जो अपने कार्य द्रव्यों के प्रति समवायि कारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं।

2. जिसमें क्रिया एवं गुण दोनों हों तथा किसी न किसी रूप में दोनों का समवायि कारण रूप सम्बन्ध हो उसे द्रव्य कहते हैं।

3. कार्य का समवायि कारण और गुण तथा कर्म का जो आश्रयभूत पदार्थ है उसे वैशेषिकमतानुसार द्रव्य कहते हैं।

4. रस, गुण, वीर्य विपाक तथा कर्म इन पांचों के आश्रयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

5. निर्दुष्ट लक्षण रूप में जिस लक्षण से द्रव्य की सम्पूर्ण जाति का ज्ञान हो एवं जाति के सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त हो तो उसे द्रव्य कहते हैं।

द्रव्य का निर्दुष्ट लक्षण - द्रव्य का बताया गया लक्षण उस द्रव्य की सम्पूर्ण जाति में लक्षण दोषों से रहित, पूर्ण-रूपेण घट जाये उसे उस द्रव्य का निर्दुष्ट लक्षण कहते हैं। अतः गाय का निर्दुष्ट लक्षण बताते समय हमें अन्य लक्षणों के साथ **'सास्नादिमत्वं गोत्वं'** कहना होगा अर्थात् अनेक रंगों वाली, सींग, पूंछ, चिरे खुर वाली तथा **गलकम्बल सहित** पशु को गाय कहते हैं। यहां अन्य पशुओं में अन्य लक्षण तो मिलेंगे किन्तु गलकम्बल नहीं होने से दोष नहीं होगा। अतः गाय का निर्दुष्ट लक्षण है **गोत्वंजातिमत्वं गोत्वम्।**

द्रव्य की परिभाषा : द्रव्य की परिभाषा करते हुए वाचस्पत्यवृहद्- भिधान में लिखा है कि-

रसो गुणास्तथा वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च।
पञ्चानां यः समाहारस्तद् द्रव्यमिति कथ्यते॥

अर्थात् रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (वीर्य एवं प्रभाव) इन पांचों का समुदाय द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य का वर्गीकरण- द्रव्यों का विस्तार से अवलोकन करने पर ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण सृष्टि द्रव्यों पर आधारित है। इनमें निर्माण करने वाले एवं गति देने वाले दोनों प्रकार के द्रव्य है। इसी दृष्टिकोण से द्रव्य का दो भागों में विभाजन किया है।

द्रव्यों का विभाजन- 1. कारण द्रव्य, 2. कार्य द्रव्य।

कारण द्रव्य :

1. **खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।** सू० 1/48 (चरक)

खादि अर्थात् आकाशादि पांच महाभूत, आत्मा, मन, काल एवं दिशा ये नौ कारण द्रव्य होते हैं।

कार्य द्रव्य- द्रव्य गुण शास्त्र एवं चिकित्सा की दृष्टि से द्रव्य शब्द का अर्थ आहार और औषध के रूप में उपयोग में आने वाले सभी सजीव, निर्जीव पांचभौतिक कार्यद्रव्यों से लिया गया है। अवस्थाभेद से इन कार्य द्रव्यों को दो भागों में विभक्त किया गया है- 1. चेतन, 2. अचेतन। चेतन के भी पुनः दो भाग किये गए हैं-

(क) बहिरन्तश्चेतन, (ख) अन्तश्चेतन। इनमें बहिरन्तश्चेतन में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आते हैं जिन्हें चार भेदों जरायुज,

अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज में विभाजित किया गया है। अन्तश्चेतन में वृक्ष, लता, गुल्म आदि आते हैं। इनके भी चार भेद वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध तथा औषध आदि किये गए हैं। अचेतन में धातुओं की भी गणना की जाती हैं इन्हें पार्थिव भी कहा जाता है। इनको प्राकृतिक और कृत्रिम नाम से दो भागों में किया गया है।

प्रश्न : द्रव्य विभाजन का सामान्य परिचय लिखें?

उत्तर : इन कार्य द्रव्यों की संख्या अधिकता के कारण स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक का अध्ययन करना कठिन होने से ही इनका वर्गीकरण करना उचित समझा गया है।

1. कार्य कारण भेद से-(नित्यानित्य भेद से), 2. प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष भेद से, 3. इन्द्रियग्राह्याग्राह्य भेद से, 4. मूर्त एवं अमूर्त भेद से, 5. व्यापकाव्यापक भेद से अर्थात् परमाणु व वस्तुरूप में, 6. चेतनाचेतन भेद से।

1. कार्य कारण भेद से- इस सृष्टि में प्राप्त सभी द्रव्यों के दो भेद बताये हैं- एक वे द्रव्य जो कार्य सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं एवं दूसरे वे जो उत्पन्न होते हैं। अत: वे जो कार्य सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं, परमाणु रूप से नित्य होते हैं उन्हें कारण द्रव्य कहा जाता है तथा दूसरे वे जो नौ कारण द्रव्यों द्वारा उत्पन्न होते हैं एवं अनित्य होते हैं वे कार्य द्रव्य कहलाते हैं, जैसे गेहूं, चावल, घड़ा, कपड़ा आदि संख्या की दृष्टि से कारण द्रव्य नौ तथा कार्य द्रव्य असंख्य होते हैं।

2. प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष भेद से- जो द्रव्य स्थूल रूप में परिलक्षित होते हैं वे प्रत्यक्ष हैं तथा जो परमाणु रूप में रहते हैं वे अप्रत्यक्ष कहे जाते हैं।

3. इन्द्रियग्राह्य ग्राह्य भेद से- जो द्रव्य इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने योग्य होते हैं, वे इन्द्रियग्राह्य एवं जिनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता उन्हें अतीन्द्रिय कहा जाता है। जैसे मन, आत्मा, काल, दिशा। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले द्रव्यों का ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त होता है।

4. मूर्त एवं अमूर्त भेद से- नौ कारण द्रव्यों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन में क्रिया रहने के कारण इन्हें मूर्त द्रव्य माना जाता है। इनके विपरीत आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा अमूर्तिमान एवं क्रियाहीन परिलक्षित होने से अमूर्त कहे जाते हैं।

5. नित्यानित्य भेद से- जिन द्रव्यों का विनाश नहीं होता उन्हें नित्य कहते हैं। नौ कारण द्रव्यों में आकाश, काल, दिशा, आत्मा एवं मन नित्य कहे जाते हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु कार्य रूप में अनित्य एवं तन्मात्रा रूप में नित्य हैं।

6. व्यापकाव्यापक भेद से- नौ कारण द्रव्यों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं मन अव्यापक हैं तथा इनकी अपेक्षा, आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा व्यापक होने से विभु कहे जाते हैं।

प्रश्न : चेतनाचेतन भेद से द्रव्य का वर्गीकरण कीजिए?

उत्तर : सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् (चरक सूत्र)

इन्द्रिय सहित को चेतन एवं इन्द्रियरहित को अचेतन द्रव्य कहा जाता है।

1. चेतन द्रव्य, 2. अचेतन द्रव्य।

1. चेतन द्रव्य - जो द्रव्य इन्द्रियों से युक्त होते हैं उन्हें चेतन कहा जाता है, जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि। इनमें चेतन द्रव्यों के साथ इन्द्रिय एवं आत्मा का सम्बन्ध रहता है। इसी कारण उनमें जीवन या चेतना के सामान्य निम्नलिखित लक्षण परिलक्षित होते हैं।

(क) ग्रहण किये आहार को शरीर के सात्म्य बनाना।
(ख) शरीर के मल का विसर्जन करना।
(ग) श्वासोच्छ्वास की क्रिया करना।
(घ) प्रजनन गुण से सन्तोत्पत्ति करना।
(ङ) शरीरावयवों की वृद्धि करना।
(च) सुख दु:खादि के भाव स्पष्ट करना एवं उनके प्रति विशेष क्रिया का प्रदर्शन करना आदि।

चेतन के पुन: दो भेद हैं- 1. बहिरन्तश्चेतन, 2. अन्तश्चेतन।

2. बहिरन्तश्चेतन– इस वर्ग में उन प्राणियों की गणना की जाती है जो अपने भाव उचित अवसर पर व्यक्त करते हैं तथा नहीं भी करते अर्थात् यदि नहीं चाहें तो अपने अन्दर ही उनका धारण किये हुए अनुभव करते हैं। इनके भी सुश्रुत में चार भेद किये गए हैं।

1. जरायुज, 2. अण्डज, 3. स्वेदज, 4. उद्भिज्ज।

1. जरायुज– जो जरायु (अपरा या Placenta) से उत्पन्न होते हैं उन्हें जरायुज कहा जाता है जैसे मनुष्य, पशु आदि।

2. अण्डज– जिनका जन्म अण्डे से होता है उन्हें अण्डज कहा जाता है जैसे पक्षी, सांप, पिपिलिका आदि।

3. स्वेदज– जो पसीने से उत्पन्न होते हैं अथवा मल भाग या पृथ्वी की वाष्प से जिनकी उत्पत्ति होती है, वे स्वेदज हैं जैसे यूका, लिक्षा, कृमि, कीट आदि।

4. उद्भिज्ज– वर्षात् में जो अवसर पाकर पृथ्वी को फाड़कर बाहर निकलते हैं उन्हें उद्भिज्ज कहा जाता है। जैसे वीरबहूटी, मेंढक आदि। बाकी दिनों में ये शीत समाधी लेकर पृथ्वी में पड़े रहते हैं।

अण्डजाः पक्षिणाः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैव प्रकारणि स्थलजान्यौद्कानि च॥ (मनु०अ० 1)

शंका समाधान : यद्यपि बीरबहूटी, मेंढक आदि का जन्म भी अण्डे से ही होता है तब भी इनको पृथक मानने की इसके लिए लिखा है कि–

1. ये कुछ काल तक पृथ्वी में रह सकते हैं एवं अवसर पाकर बाहर निकल आते हैं।

2. दूसरा इसमें त्वचा द्वारा भी श्वसन क्रिया सम्पन्न होती है जिसे इन प्राणियों की शीत समाधि कहा जाता है।

अन्तश्चेतन : इस वर्ग में वनस्पति का वर्गीकरण किया गया है। इनमें अपनी संवेदना को व्यक्त करने की शक्ति नहीं होती। इनमें पाई जाने वाली चेतना एवं अन्तः संवेदना के अनेक उदाहरण वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि–**''अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः''** आधुनिक वैज्ञानिकों में डॉ० जगदीशचन्द्र बसु ने भी पेड़ पौधों में जीव होना सिद्ध कर दिया है। इन्हें Vegetable kingdom कहते हैं।

वनस्पति वर्ग के भी चार भेद किये गए हैं :-

1. वनस्पति, 2. वानस्पत्य, 3. वीरुध, 4. औषध।

1. वनस्पति– जिनमें केवल फल लगते हैं, पुष्प अदृश्य होते हैं उन्हें वनस्पति कहते हैं जैसे–वट, पीपल आदि।

2. वानस्पत्य– जिनमें पुष्प एवं फल दोनों दिखाई देते हैं उन्हें वानस्पत्य कहते हैं जैसे आम, नीम, जामुन आदि।

3. वीरुध– जो वनस्पतियां लता एवं गुल्म रूप में हो उन्हें वीरुध कहते हैं जैसे प्रसारिणी, गिलोय, कण्टकारी, कनेर आदि।

4. औषध– फल पकने पर जो वनस्पति स्वयं नष्ट हो जाये उसे औषध कहा जाता है जैसे जौ, चावल, गेहूं, बाजरा आदि।

पदार्थ विज्ञान का आयुर्वेद में महत्व :

दर्शन एवं आयुर्वेद का मूल उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। चूंकि आयुर्वेद मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के उपाय बताने के साथ दार्शनिक सिद्धान्तों का भी अपनी दृष्टि से वर्णन करता है इसी कारण आयुर्वेद को स्वतन्त्र दर्शन भी विद्वानों ने स्वीकर किया है। समस्त सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का कारण पदार्थों को बताया है अतः आयुर्वेद में अपने मूल उद्देश्य, स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोग से मुक्ति दिलाने की पूर्ति के लिए पदार्थ ज्ञान की आवश्यकता है। इसी प्रकार आहार विहार, चिकित्सा सिद्धान्तों की पूर्ति, वस्तुओं की ग्रहण एवं न ग्रहण की प्रवृति, आयुर्वेद हेतु तत्वों के ज्ञान प्राप्त करने के लिए पदार्थ विज्ञान पढ़ना आवश्यक है। रोग परीक्षा एवं रोग ज्ञान के लिए प्रमाण, औषध द्रव्यों के मूल पांचभौतिक संगठन, षड् पदार्थों की कार्यकारिता औषधियां के गुण कर्मादि के ज्ञान हेतु भी पदार्थ विज्ञान को आवश्यकता होती है।

यह पदार्थ विज्ञान प्रत्येक दर्शन का आधार है यद्यपि पदार्थ एवं द्रव्य गणना में प्रत्येक दर्शन भिन्न होते हुए भी मूल तत्वों के आधार पर एक ही है।

द्रव्य वर्गीकरण तालिका
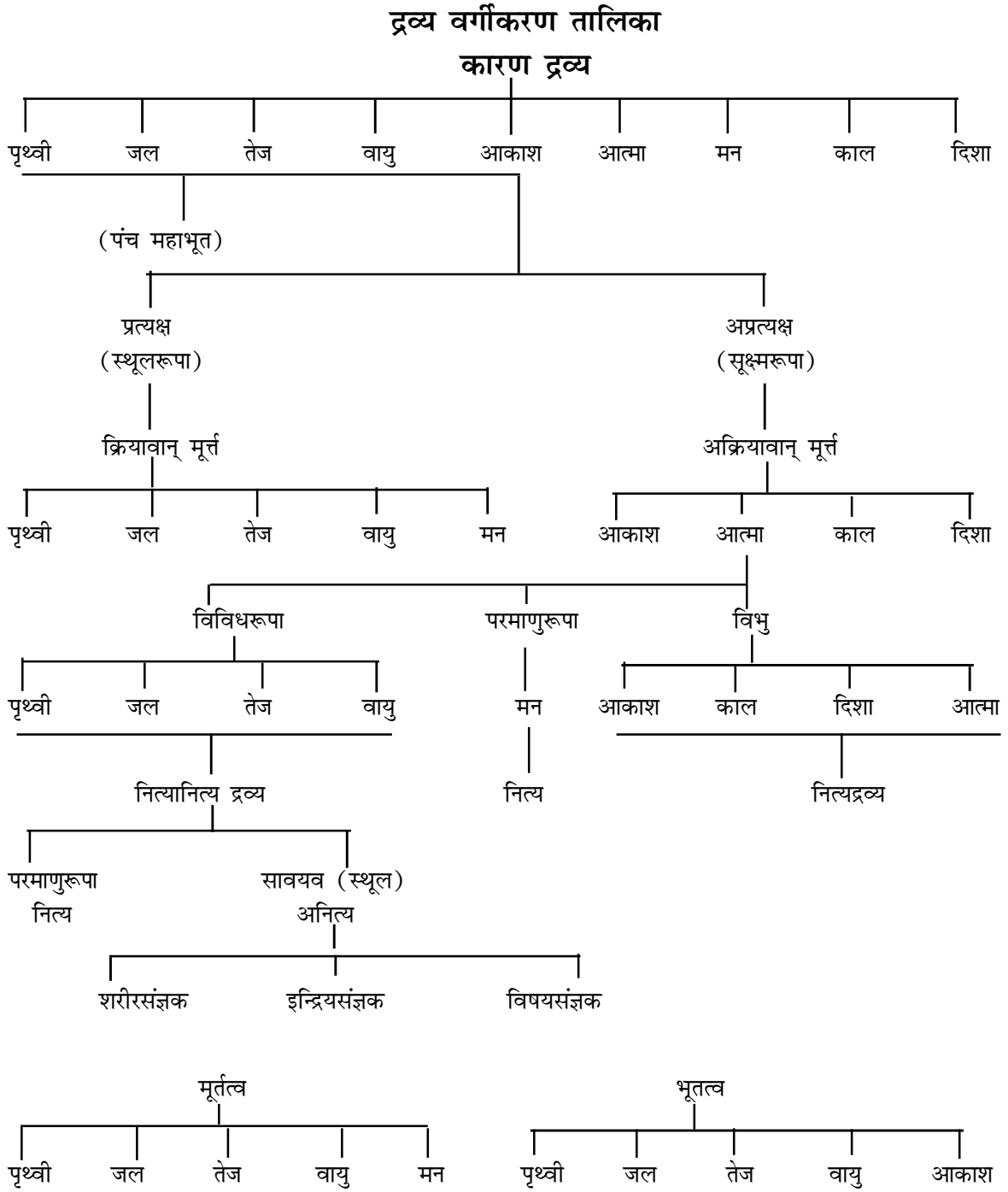
(पदार्थ विज्ञान एवं इतिहास से साभार)
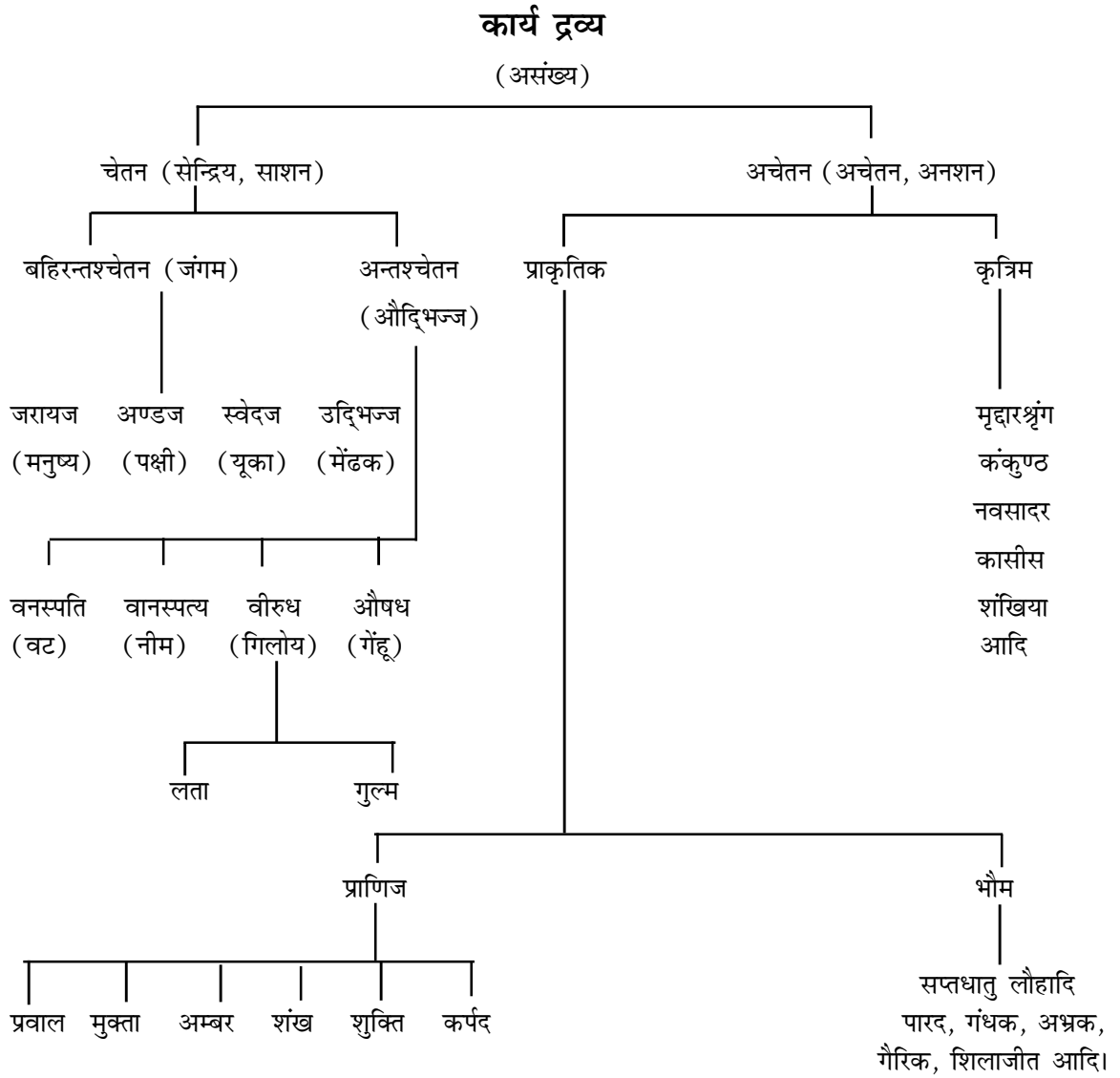
प्रश्न : द्रव्यों के सामान्य विशेष एवं भौतिक गुणों का वर्णन करें?

उत्तर : द्रव्यों में गुण : द्रव्य में पाये जाने वाले अनेक गुणों को जिनको मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जाता है। 1. **विशेष गुण** और 2. **सामान्य गुण**। भौतिक दृष्टि से भी द्रव्य में सामान्य गुणों का उल्लेख करते हुए मुख्य दो भेद किये हैं। 1. **कारण द्रव्य,** 2. **कार्य द्रव्य**। इनमें कारण द्रव्यों की संख्या नौ बताई गई है, जैसा कि पीछे द्रव्य विवरण में पढ़ चुके हैं। इन कारण द्रव्यों में जिन गुणों की विद्यमानता बनी रहती है उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ वर्णन कर दिया जायेगा। ज्ञान की दृष्टि से यहां सभी द्रव्यों में पाये जाने वाले समान गुणों का वर्णन किया जायेगा तो सामान्य एवं विशेष गुणों के नाम से वर्णित हैं। प्रत्येक द्रव्य के गुण वर्णन –

वायोर्नवैकादशतेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे महेश्वरेष्टौ मनसस्तथैव च॥

पृथ्वी में : रूप-रस-गन्ध स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग- विभाग-परत्व- अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व एवं वेग आदि 14 गुण रहते हैं।

जल में : पृथ्वी के समान वे ही 14 गुण हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि गन्ध के स्थान पर स्नेह गुण है।

तेज में : रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व- वेग ये 11 गुण रहते हैं।

वायु में : रूप-रस-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-वेग ये 9 गुण रहते हैं।

आकाश में : संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग और शब्द ये 6 गुण रहते हैं।

काल एवं दिशा में : संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग एवं विभाग ये 5 गुण रहते हैं।

आत्मा में : बुद्धि-सुख-दु:ख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग तथा भावना आदि 14 गुण रहते हैं।

मन में : संख्या परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व एवं वेग ये 8 गुण रहते हैं।

विशेष गुण : विशेष गुण का लक्षण बताते हुए दीपिका में लिखा है कि-वह गुण जो एक समय में एक द्रव्य में रहे विशेष गुण कहलाता है। भाषा परिछेद में विशेष गुणों का नामोल्लेख करते हुए लिखा है-

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहसांसिद्धिको द्रवः।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः॥

अर्थात् दर्शन शास्त्र में मान्यरूप गुणों में से बुद्धि आदि छ: (बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख) स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, अदृष्ट, भावना और शब्द ये विशेष गुण बताये गए हैं।

भौतिक शास्त्रानुसार द्रव्य स्वरूप व गुण- ताप, प्रकाश आदि कुछ वस्तुओं को छोड़कर संसार की विभिन्न निर्जीव वस्तुयें पदार्थ कहलाती हैं तथा जिस विज्ञान में ताप, प्रकाश विद्युत् तथा शब्द का अध्ययन किया जाता है पदार्थो के स्वाभाविक ज्ञान का वर्णन किया जाता है उसे भौतिक विज्ञान कहते हैं।

द्रव्य की अवस्थायें : समस्त द्रव्यों को प्राय: तीन अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। 1. घन द्रव्य, 2. द्रव द्रव्य, 3. गैस द्रव्य। घन को ठोस एवं द्रव तथा गैस को तरल भी कहते हैं

घन : जिनका किसी प्रकार का निश्चित आकार हो जैसे गोल, लम्बा, चपटा अथवा अन्य किसी भी प्रकार का। यह आकार स्वयं नहीं बदलता है किन्तु थोड़ा सा बल प्रयोग करने पर आकार बदला जा सकता है। ठोस पदार्थों में इस गुण को आकार स्थापकत्व कहते हैं। यह ठोस पदार्थों की विशेषता है।

द्रव : द्रव उसे कहा जाता है जिसका आकार निश्चित नहीं होता किन्तु 1. जिस पात्र में डाला जाये उसी का आकार ग्रहण कर लेता है। 2. जिस की ऊपर की सतह सदैव बराबर रहती हैं जैसे जल, तैल, पारद आदि। 3. इसका भी आयतन स्वयं नहीं बदलता। इसके बदलने के बाद अधिक बल प्रयोग की आवश्यकता है।

गैस : जिसका आयतन भी स्थिर न हो तथा पात्र के आकार को तो धारण करते ही हैं, उसके आयतन के समान ही अपना भी आयतन बनाने वाले हों उन्हें गैस कहा जाता है। इनमें व्याप्त होने का गुण है अत: ये कितने ही थोड़े परिमाण में हों समस्त पात्र में फैल जाते हैं।

प्रश्न : पंचमहाभूतों की उत्पत्ति, परिभाषा, गुण एवं भेदों के परिचय के साथ भूतानुप्रवेश का वर्णन करें?

उत्तर : कार्य सृष्टि के निर्माण में सहायक होने के कारण ही पृथ्वी-जल-तेज-वायु- आकाश-आत्मा- मन-काल एवं दिशा द्रव्यों को कारण द्रव्यों के नाम से पुकारा जाता है। आयुर्वेद के विद्वानों ने भी कार्य सृष्टि की उत्पत्ति में इन्हीं नौ द्रव्यों का उल्लेख किया है।

''खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रह''

प्रश्न : पंच महाभूतों की उत्पत्ति, लक्षण एवं परिभाषा लिखें?

आगे पांचों महाभूतों का क्रमश: वर्णन किया जा रहा है :-

प्रश्न : पृथ्वी के लक्षण, परिभाषा लिखें?

उत्तर : परिभाषा- जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से गन्ध रहे उसे पृथ्वी कहा जाता है।

लक्षण :

1. **अद्भ्यः पृथ्वी** (तैति०उप०नि०)
   क्रमशः जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।
2. **अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिः।** (मनु)
   जल से गन्ध गुणवाली भूमि उत्पन्न हुई।
3. **तमोबहुला पृथ्वी।** (सुश्रुत)
   तमोगुणप्रधान द्रव्य पृथ्वी है।
4. **रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी।** (वै०द०)
   रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणवाले तत्व को पृथ्वी कहते हैं।

प्रश्न : पृथ्वी के त्रिविध भेदों का वर्णन करें?

उत्तर : पृथ्वी के भेद : प्रायः पृथ्वी के कठिन, कोमल आदि अनेक भेद होते हैं। जिनमें पार्थिव अवयवों का संयोग दृढ़ होता है वह कठिन एवं जिन अवयवों का संयोग शिथिल होता है वह कोमल पृथ्वी कही जाती है। फिर भी इस पृथ्वी के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें शास्त्रोक्त नित्य एवं अनित्य दो भेद प्रसिद्ध हैं। मूल परमाणु या कारण रूप में पृथ्वी को नित्य एवं कार्यरूप जो परमाणु के संयोग से उत्पन्न होता है उसे अनित्य कहा जाता है। इस अनित्या पृथ्वी के अनेक रूप हैं जिनको तीन भागों में विभक्त करते हुए-1. **शरीरसंज्ञक,** 2. **इन्द्रियसंज्ञक** और 3. **विषयसंज्ञक** कहा जाता है।

नित्यानित्यं च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा।
अनित्यं तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी॥
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा॥ 37 कारिकावली

1. शरीरसंज्ञक :

योनिजानि भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम्।
विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः॥

यद्यपि शरीर निर्माण में पंचमहाभूतों का सहयोग है फिर भी पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता के कारण पार्थिव है अर्थात् पार्थिवांश की अधिकता है। प्राणियों के शरीर में जो स्थूलता है वह स्थूल गुण भी पृथ्वी तत्त्व के कारण है। आत्मा इन्द्रिय एवं मन का निवास होने से यह उनका आश्रय है।

इस शरीरसंज्ञक पृथ्वी के दो प्रकार होते हैं 1. योनिज और 2. अयोनिज।

1. योनिज- गर्भाशय में रज और शुक्र के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर को योनिज कहते हैं। इन्हें भी दो भागों में विभक्त किया गया है। जरायुज तथा अण्डज। जरायुज में मनुष्य पशु आदि अपरा में उत्पन्न होने वाले जीव तथा अण्डज में अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी कीट, कृमि, जलचर आदि।

2. अयोनिज- जो शरीर बिना रज एवं वीर्य के संयोग हुए ही उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें अयोनिज कहा जाता है। अयोनिजों के भी तीन भेद बताये गए हैं 1. स्वेदज, 2. उद्भिज्ज, 3. अदृष्ट विशेष।

जो शरीर, धर्मविशेष अणुओं से बने होते हैं उन्हें अदृष्ट विशेष कहा जाता है जैसे देवता, महर्षि, धर्म-पुरुष आदि। इन्हें मानस सृष्टि भी कहा जाता है। (स्वेदज एवं उद्भिज का तालिका में वर्णन किया गया हैं)

2. इन्द्रियसंज्ञक :

'इन्द्रियं घ्राणलक्षणं'

जिससे पृथ्वी का गुण गन्ध ग्रहण होता है वह इन्द्रियसंज्ञक पृथ्वी कही जाती है। इसके अन्तर्गत गन्ध का ग्रहण कराने वाली प्राणियों की घ्राणेन्द्रियां आती हैं। घ्राणेन्द्रिय में पृथ्वी महाभूत की प्रधानता होती है।

3. विषयसंज्ञक :

विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्तमुदाहृतः

जो शरीर तथा इन्द्रिय दोनों से भिन्न हों एवं सभी परिस्थितियों में विषय ही बने रहें, उन्हें विषय कहा जाता है। जैसे मिट्टी, पत्थर, कीमती हीरा, मणि आदि पृथ्वी रूप विषय ही हैं।

पृथ्वी के गुण :

स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश। (कारिकावली)

पृथ्वी में भी 14 गुण बताए गए हैं जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार है। इनमें से प्रारम्भिक चार (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) विशेष गुण कहे जाते हैं। संख्यादि सात गुण चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय हैं।

पृथ्वी के रूप, रस एवं गन्ध :

तत्र क्षितिगन्धहेतुर्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः। (सि० मुक्ता०)

रूप : पृथ्वी में शुक्ल, रक्त, पीत, हरित, नील, खाखी एवं चित्र विचित्र आदि भेद से नाना प्रकार के रूप होते हैं।

रस : मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय भेद रूप पृथ्वी में छः प्रकार के रस होते हैं।

गन्ध : सुगन्ध एवं दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार की गन्ध होती है।

पृथ्वी में पाकज गुण- नित्यानित्य रूप दोनों प्रकार की पृथ्वी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अनित्य तथा पाकज होते हैं। पाकज का अर्थ है पाक से उत्पन्न होने वाले तथा पाक का दूसरा अर्थ है तेज का विलक्षण संयोग। इस विलक्षण तेज संयोग रूप पाक से पृथ्वी के पूर्ववर्ती रूप, रस, गन्ध व स्पर्श का नाश हो जाता है। इसके स्थान पर रूप, रस, गन्ध व स्पर्श की नए रूप में उत्पत्ति हो जाती है अतः पृथ्वी के परमाणु पाकज हैं। इसके अनेक उदाहरण हैं जैसे आम के कच्ची अवस्था से पक्की स्थिति में आने पर सूर्य के ताप के संसर्ग के रूप, रस, गन्धादि में परिवर्तन आ जाना, मिट्टी के घड़े का कच्ची अवस्था में आग पर रखने पर रूपादि का परिवर्तन हो जाना आदि।

प्रश्न : जल महाभूत की परिभाषा, लक्षण एवं भेद लिखें?

उत्तर : उत्पत्ति क्रम में अग्नि से जल का उत्पन्न होना माना गया है। देखा जाता है कि उष्णता से ही प्रकृति में द्रवता उत्पन्न होती है। जल का गुण रस है। रस गुण के कारण ही संसार की विभिन्न वस्तुओं में स्निग्धता आती है। जल में रस, गुण के अतिरिक्त शब्द, स्पर्श एवं रूप आदि गुण भी भूतानुप्रवेश से आते हैं। अतः बिना जल के द्रव्यों में द्रवत्व, नमी या गीलापन नहीं आ सकता है। प्रत्येक प्रकार की शुद्धि भी जल के बिना नहीं हो सकती। अतः लौकिक दृष्टि से जल का विशेष महत्व देखा जाता है।

परिभाषा- जिन द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से शीत स्पर्श, रस एवं गुण की प्रधानता हो उसे जल कहा जाता है।

लक्षण :

1) **अग्नेरापः।** (तै० उ०)
क्रमशः अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई।

2) **सत्त्वतमोबहुला आपः।** (सुश्रुत)
सत्त्वतमोगुण से युक्त द्रव्य को जल कहते हैं।

3) **ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।** (मनु)
अग्नि से रस गुण वाला जल उत्पन्न हुआ।

4) **रूप-रस-स्पर्शवत्यापो द्रवस्निग्धाः** (वैशेषिक)
रूप, रस, स्पर्श एवं स्निग्ध गुण वाले द्रव को जल कहते हैं।

सुश्रुत के लक्षणानुसार जल **'सत्त्वतमोबहुल'** है। सत्त्व का स्वरूप प्रकाशवान् एवं शुक्ल बताया गया है। अतः जल में शुक्लता की प्रतीति होती भी है। पंचमहाभूतों में गुरुता जल में तमोगुण के कारण होती है।

जल के गुण :

गन्धहीना स्नेहयुताश्चैते एवं चतुर्दश जले। (कणाद)
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश:॥ (कारिकावली)

अर्थात् पृथ्वी के गुणों में गन्धरहित और स्नेहयुक्त 14 गुण जल में रहते हैं। स्पष्ट रूप में स्पर्श आदि 8 (स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व), वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप रस तथा स्नेह आदि 14 गुण बताये हैं।

जल स्वरूप : जल में पाया जाने वाला सांसिद्धिक द्रवत्व (तरलता) ही जल का स्वरूप है तथा स्नेह इसका विकारी गुण है।

जल का वर्ण : जल का वर्ण अभास्वर शुक्ल बताया गया है। (अभास्वर का अर्थ है पर का प्रकाशक)।

रस : जल सभी रसों का आधार है फिर भी मधुर रस की प्रधानता है।

प्रधानता : जल में सांसिद्धिक शीतलता होने से इसका स्पर्श शीत है।

जल के भेद :

नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मत:॥ (कारि०)

पृथ्वी की तरह जल के भी नित्य, अनित्य दो भेद किये गए हैं। परमाणु रूप में जल नित्य एवं कार्य रूप में अनित्य है। अनित्य स्वरूप जल को तीन भागों में विभाजित किया गया है।

1. शरीरसंज्ञक, 2. इन्द्रियसंज्ञक, 3. विषयसंज्ञक।

शरीरसंज्ञक– जलीय शरीर अयोनिज होते हैं जो जल के स्थान वरुण लोक में रहते हैं। पार्थिव अवयवों की सहायता से वे जलीय उपभोग में समर्थ होते हैं। इन्हें अयोनिज बताया गया है।

इन्द्रियसंज्ञक– इसके अन्तर्गत रसना इन्द्रिय का ग्रहण किया जाता है, जो जल के रस का ज्ञान कराने वाली है। अन्य सभी प्रकार के जलीय रस विषयों का भी ज्ञान प्राणियों की जिह्वा से ही होता है।

विषयसंज्ञक– समुद्र, नदी, सरोवर, कूप, हिम, ओला आदि सभी जल के विषय रूप हैं। इस जल को व्यावहारिक दृष्टि से अनेक भेदों में विभक्त किया गया है। जैसे गांग, समुद्रादि।

प्रश्न : जल की अवस्थाओं का परिचय दें?

उत्तर : प्राचीन आचार्यों ने विषय रूप जल की चार अवस्थायें बताई हैं– 1. अम्भ, 2. मरीची, 3. मर, 4. आप।

अम्भ : सूर्य मण्डल के ऊपरी आकाश में रहने वाले जल को अम्भ कहा जाता है। यह जल की सूक्ष्म अवस्था मानी गई है। सूर्य के इस ऊपरी भाग का नाम परमेष्ठी मण्डल है जो परमात्मा का स्थान बताया गया है। अत: यहां रहने वाला जल सोम एवं अमृत तुल्य है।

मरीची : सूर्य एवं पृथ्वी के मध्य स्थित अन्तरिक्ष में रहने वाले जल को मरीची कहा गया है। यह सूर्य के चारों ओर स्थित रहता है। अग्नि को धारण करने वाला होने से आग्नेय सोम कहते हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाले बादल भी किसी कारण तक इसी रूप में स्थित है। सूर्य के चारों तरफ मरीची नामक जल रहने से ही सूर्य का नाम मरीचीमाली एवं अंशुमाली भी है।

मर : पृथ्वी पर पाया जाने वाला सम्पूर्ण प्रकार का जल मर कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति में सोम एवं अग्नि की प्रधानता है। विश्व को जीवन प्रदान करने वाला यही जल है। विश्व भी अग्नि सोमात्मक प्रधान होने से मर नामक जल को ही जीवन प्रदान करने वाला बताया है।

आप : पृथ्वी के नीचे स्थित जल को आप की संज्ञा दी गई है। जो कूप, चश्मों आदि से प्राप्त होता है।

तेज निरूपण : अग्निसोमात्मक प्रधान इस विश्व में अग्नि का विशेष महत्व देखा जाता है। विश्व में मनुष्यों की प्रकृतियों में भी अग्नि तत्व की प्रधानता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में इसका विशेष महत्व देखा जाता है।

जिन मनुष्यों की प्रकृति उष्ण होती है उनके लिए औषध व्यवस्था का भी उसी रूप में वर्णन किया गया है। इसी प्रकृति के आधार पर व्यक्ति का स्वभाव भी देखा जाता है।

सृष्टि में जितने प्रकार की भी उष्मा पाई जाती हैं वे सभी अग्नि तत्व से प्रभावित हैं। अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण होते हैं। शुद्ध अग्नि का स्पर्श उष्ण और रूप चमकीला होता है। कुछ लोगों के मतानुसार ''जिसमें उष्ण स्पर्श समवाय सम्बन्ध से रहता है उसे तेज या अग्नि कहते हैं''। अग्नि की उत्पत्ति के लिए स्पर्श तन्मात्रा (वायु) की सहायता आवश्यक है। वायु में गति विशेष गुण है।

प्रश्न : तेज महाभूत की परिभाषा, लक्षण एवं भेद बताइये?

उत्तर : अग्नि के लक्षण–

1. **वायोरग्निः** (तैत्तिरीयोपनिषद्)
2. **सत्वरजोबहुलोऽग्निः।** (सुश्रुत)
3. **वायोरपिविकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम्।** (मनु)
4. **तेजो रूपस्पर्शवत्।** (वै०द०)

1. क्रमशः वायु से अग्नि की उत्पत्ति हुई। 2. अग्नि सत्त्व और रजोगुण प्रधान है। 3. महाभूतों के उत्पत्ति क्रम में तम को नाश करने वाले भावस्वररूप गुणवाले तेज की उत्पत्ति हुई हैं। 4. रूप और स्पर्श गुण वाले तत्व को अग्नि कहते हैं।

उष्णः स्पर्शस्तेजस्तु स्याद्रूपंशुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिं द्रवत्वं तु नित्यादि च पूर्ववत्।। (कारिकावली)

तेज परिभाषा : जिसमें उष्ण स्पर्श हो, भास्वर शुक्ल रूप हो, नैमित्तिक द्रवत्व हो एवं पृथ्वी आदि की भांति नित्यानित्य भेद हो वह तेज या अग्नि द्रव्य है।

तेज के गुण : पृथ्वी आदि भूतों की तरह अग्नि में भी कुछ विशेष एवं सामान्य गुण पाये जाते हैं। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार वेग ये ग्यारह गुण सामान्य रूप से तेज में रहते हैं। उसमें रूप विशेष गुण है।

रूप : इसका रूप भास्वर शुक्ल है। इसी प्रकार इस विषय में **''लोहितरूपत्वं तेजस्त्वं''** भी कहा गया है।

स्पर्श : तेज का स्पर्श उष्ण है।

तेज का प्रकार : अन्य महाभूतों की तरह तेज भी परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य है। अनित्य रूप तेज तीन भागों में विभक्त किया गया है।

1. शरीरसंज्ञक, 2. इन्द्रियसंज्ञक, 3. विषयसंज्ञक।

शरीरसंज्ञक– तेज को ग्रहण करने वाली तैजस इन्द्रिय है, जिसके अधिष्ठान नेत्र है। अतः प्राणियों के नेत्र तेज ग्राहक हैं।

इन्द्रिय संज्ञक : तेज को ग्रहण करने वाली तेजस इन्द्रिय है। जिनके अधिष्ठान नेत्र हैं अतः प्राणियों के नेत्र तेज ग्राहक है।

विषयसंज्ञक– तेज के अनेक विषय हैं जैसे अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि का तेज।

तेज के विषय– तेज के विषयों का विभाजन मूल ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता किन्तु प्रशस्तपाद भाष्य में आया है जो इस प्रकार है– 1. भौम, 2. दिव्य, 3. उदर्य, 4. आकरज।

1. भौम– जो अग्नि इन्धन की सहायता से जलती है, उसे भौम तेज कहा गया है एवं इन्धन रूप व्यवहार में आने वाली भौतिक अग्नि भी भौम कही जाती है इसी से प्राणियों के भोजन आदि दैनिक व्यवहार के कार्य होते हैं।

2. दिव्य– बिना इन्धन की सहायता से प्रकाशित होने वाला तेज दिव्य अग्नि कहलाता है। जैसे सूर्य, चन्द्र एवं आकाश की विद्युत् आदि।

3. उदर्य– प्राणियों की जठराग्नि को ओदर्य तेज कहा जाता है। आहार रूप में ग्रहण सभी प्रकार के भोज्य पदार्थों का परिपाक करने वाली उदर्य अग्नि कहलाती है। (विविध एन्जाइम एवं पित्त अग्नि रूप ही है)

4. आकरज– जो तेज खनिजों के निर्माण में सहायक है एवं धातुओं में विद्यमान भी रहता है उस भूगर्भ तेज को आकरज कहते हैं। धातुओं में श्रेष्ठ होने के कारण सोने का आकरज अग्नि के रूप में उदाहरणत: उल्लेख किया गया है।

वायु निरूपण : आकाश से वायु महाभूत की उत्पत्ति हुई है। वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से भी प्राणियों के शरीर की चेतना, स्पन्दन, हृदय की गति आदि का ज्ञान किया जाता है। वह भी वायु की गति पर ही निर्भर करता है। इसीलिए आयुर्वेद में भी **''वायुरेव भगवान्''** का प्रतिपादन किया गया है। यदि प्रकृति में वायु न हो तो सारी गतियां रुककर निश्चेष्ट भाव होकर ही रह जायेगा। वायु महाभूत अतिसूक्ष्म, सर्वगत और संसार के सभी द्रव्यों की आत्मा है। इसी का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने लिखा है कि **''सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृत:''** यह अव्यक्त तत्व कर्म से व्यक्त होता हैं सुश्रुत ने इसी बात को **''अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च''** कहा है क्योंकि सभी परिवर्तनों में वायु ही मूल कारण है। अत: आकाश तत्व से सबसे पहले गति का मूल तत्व उत्पन्न हुआ। इस विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो गतिशील न हो। इसलिए इसका नाम संसार अर्थात् **''संसरतीति संसार''**, रखा गया है। अणु से लेकर सूर्य आदि ग्रहों तक को गतिशील माना है। गति कर्म वायु के प्रभाव से सम्पन्न होता है।

आयुर्वेद में वायु का महत्व– आयुर्वेद में भी त्रिदोषगत वायु का विशेष महत्व बताया गया हैं। शरीर के दोष, सप्त धातुएं तथा मल क्रिया भी वायु पर आधारित है। शाङ्र्गधर में लिखा है कि–

पितं पंगु: कफ: पंगु पंगवो मलधातव:।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

अर्थात् धातुएं, कफ और पित्त तथा मल वायु के बिना गति नहीं कर सकते। अत: इन्हें पंगु कहा गया है। गति कराने का कार्य वायु का है। जहां वायु इन्हें ले जाती है वहीं चले जाते हैं। अत: दोषों की स्थिति समझने हेतु पहले वायु की स्थिति का ज्ञान किया जाता है। वात को सर्वप्रथम अपने स्थान पर लाने से भी दोषों की स्थिति सम हो जाती है इस कारण इन दोषों में भी वायु को प्रधान बताया गया है।

प्रश्न : वायु महाभूत की परिभाषा, लक्षण एवं निरुक्ति बताइये?

उत्तर : निरुक्ति : ''व गतौ-वा गतिगन्धन्यो:'' इस धातु से वायु की निष्पत्ति की गई है। अत: गति, गमन या गन्ध को सूचित करने वाला तत्व वायु है। वायु के लक्षण में **'गन्धनम्'** होने पर गन्ध पृथ्वी का गुण होने के कारण शंका होती है अत: **'गन्धनम् उपलक्षणम्'** (चक्रपाणि) कहकर शंका दूर कर दी है।

परिभाषा– जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से अनुष्णशीत स्पर्श हो उस द्रव्य को वायु कहते हैं।

वायु के लक्षण :

1. **आकाशाद्वायु:** (तै०उ०)
   क्रमश: आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई।
2. **आकाशस्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवह: शुचि:** (मनु)
   सृष्टि क्रम में वायु की उत्पत्ति आकाश से हुई।
3. **रजोबहुलो वायु:** (सुश्रुत)
   वायु रजोगुण प्रधान है।
4. **रूपरहित: स्पर्शवान् वायु:** (तर्कसंग्रह)
   रूप रहित एवं स्पर्श लक्षण वाले द्रव्य को वायु कहते हैं।
5. **अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मत:** (कारिकावली)
   अपाकज एवं अनुष्णशीत स्पर्श वाले द्रव्य को वायु कहते हैं।

वायु के भेद– नित्य व अनित्य भेद से वायु के दो भेद किए गए हैं। परमाणु रूपा नित्य है तथा कार्य रूपा अनित्य है।

कार्य रूप वायु तीन प्रकार का होता है : 1. शरीरसंज्ञक, 2. इन्द्रियसंज्ञक, 3. विषयसंज्ञक।

'शरीरसंज्ञक' अयोनिज सृष्टि है। वायवीय शरीर वायुलोक में प्रसिद्ध है। भूत प्रेतादि की भी इसी में गणना की गई है। **'इन्द्रियसंज्ञक'** में हमारे शरीर की त्वचा आती है जो सम्पूर्ण प्रकार के स्पर्श का ज्ञान कराती है। **'विषयसंज्ञक'** में सभी प्रकार

की हवायें और शरीर की प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान वायु आती है जो अपने निश्चित स्थानों में रहकर शरीर की सम्पूर्ण क्रिया में सहायक होती है।

वायु– वायु में 9 गुण बताये गए हैं : 1. स्पर्श, 2. संख्या, 3. परिमाण, 4. पृथक्त्व, 5. संयोग, 6. विभाग, 7. पर, 8. अपर तथा 9. वेग। इनमें वायु का विशेष गुण स्पर्श है।

स्पर्श– वायु का स्पर्श भी पृथ्वी की तरह अनुष्णशीत है जो जल के सम्पर्क में आने से ठण्डा एवं अग्नि के सम्पर्क में आने से उष्ण हो जाता है। अतः अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीत) बताया गया है।

आकाश निरूपण : यह कहा जाता है कि भूतादि के सृष्टिक्रम में सबसे पहले शब्द तन्मात्रा की सहायता से आकाश उत्पन्न हुआ। पुराणों में भी इसका एक सुन्दर उदाहरण मिलता है। शिलक ऋषि के पूछने पर कि इस मृत्युलोक का आश्रय कौन है, प्रवाहण ऋषि कहते हैं कि आकाश में ही इस लोक के सभी स्थावर, जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं अतः आकाश स्वयं उत्पन्न हुआ है और सभी का आश्रय है।

प्रश्न : आकाश का सामान्य परिचय दीजिए?

उत्तर : निरूक्ति– काशृ–दीप्तौ धातु में 'आ' उपसर्ग लगाने से आकाश शब्द बनता है।

अतः जो सर्वत्र दीप्त हो उसे आकाश कहते हैं। शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है। भौतिक सृष्टि का विकास भी आकाश पर ही आधारित है। अतः वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति में यही प्रधान कारण है। शून्य होने के कारण ही लघु परिणाम बताया गया है। आकाश में सुषिरता होने के कारण किसी प्रकार का व्यवधान (रुकावट) नहीं होता। इसी कारण वस्तुओं की स्थिति का माध्यम है। शब्द इसका विशेष गुण है। सूक्ष्म आकाश से ही महत् आकाश की उत्पत्ति होती है। कार्य सृष्टि विकास क्रम में इसी की प्रधानता की पौराणिक एवं आधुनिक वैज्ञानिक मत पुष्टि करते हैं। यह आकाश एक होते हुए भी उपाधिभेद से अनेक प्रकार का है।

परिभाषा : जिस द्रव्य में शब्द गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है उसे आकाश कहते हैं।

आकाश के लक्षण :

1. **''तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः''** (तै०उ०)
2. **भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं संसर्ज ह।**
3. **आकाशं सुषिरं तस्मादुत्पनं शब्दलक्षणम्॥**
4. **''सत्त्वबहुलमाकाशम्''** (सुश्रुत)
5. **'त आकाशे न विद्यन्ते'** (वै०द०)
6. **शब्दगुणकमाकाशम्** (तर्कसंग्रह)

1. महाभूतो में क्रमशः सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई। 2. महाभूतों के उत्पत्तिक्रम में सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ 3. शब्द लक्षण वाला शब्द तन्मात्रा से सुषिर आकाश उत्पन्न हुआ। 4. आकाश सत्व गुण की अधिकता वाला है। 5. अन्य महाभूतों के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि गुणों से रहित आकाश है एवं 6. जिसका मात्र शब्द गुण है वह आकाश है।

आकाश के गुण : आकाश के छः गुण माने जाते हैं।

1. शब्द, 2. संख्या, 3. परिमाण, 4. पृथक्त्व, 5. संयोग तथा 6. विभाग। इनमें शब्द विशेष गुण माना गया है शेष सभी सामान्य हैं।

भेद : यद्यपि आकाश नित्य है अतः इसके भेद नहीं किए गए फिर भी कुछ विद्वान् लिखते हैं कि अन्य महाभूतों की तरह आकाश भी कार्य रूप से अनित्य है। अनित्य के दो भेद किए गये हैं– 1. इन्द्रियसंज्ञक, 2. विषयसंज्ञक।

इन्द्रियसंज्ञक में प्राणियों की घ्राणेन्द्रियां हैं। **विषयसंज्ञक** में सभी प्रकार के शब्दों को लिया जाता है। भारतीय दार्शनिकों ने आकाश को भावात्मक और अतिसूक्ष्म तत्व माना है।

आधुनिक मत : सृष्टि में दिखाई देने वाले अनेक कार्यों की व्याख्या के लिए आधुनिक वैज्ञानिकों ने ईथर नामक द्रव्य की कल्पना की है और प्राचीन भारतीयों के आकाश के समान उसे सर्वव्यापक बताया है। परन्तु आइन्स्टाइन आदि वैज्ञानिकों का कथन है कि शून्य स्थान में ही वे सब विशेषताएं हैं जो ईथर में मानी जाती है।

आकाश में विशेष गुण : अन्य महाभूतों की तरह आकाश में भी सामान्य एवं विशेष दोनों ही प्रकार के गुण होते हैं। जहां अन्य महाभूतों के एक एक गुण विशेष का वर्णन आया है उनके साथ गुण शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। जैसे **''गन्ध वती पृथ्वी''** **''शीतस्पर्शवत्य आपः''** **''उष्णस्पर्शवत्तेजः'' रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः''** आदि। किन्तु आकाश का लक्षण बताते हुए शब्द के साथ गुण शब्द का निर्देश है।

(विशेष ज्ञान के लिए लेखक का पदार्थ विज्ञान पढ़े)

प्रश्न : पञ्चमहाभूतों का सामान्य परिचय देते हुए इनका त्रिदोष एवं रसों से सम्बन्ध बताइयें?

उत्तर : महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥ (च०शा० 1/27)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच कारण द्रव्यों को पंचमहाभूत के नाम से पुकारा जाता है। संसार में परमाणु से लेकर पहाड़ तक द्रव्यों की उत्पत्ति इन पंचमहाभूतों से होती है। ये पांचों महाभूत पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न हुए हैं अथवा इन्हे परमाणु रूप के तन्मात्रा और उनके स्थूल रूप को पंचमहाभूत कहा जाता है। पांच ज्ञानेनिद्रयां इन्हीं महाभूतों के द्वारा उत्पन्न होती हैं जो प्रत्येक महाभूत का ज्ञान कराती है। मानव शरीर में भी पंचमहाभूतों का संयोग हैं अतः स्वस्थ या रुग्णावस्था में पंचमहाभूतों को सामान्य अवस्था में जल तत्व की कमी होने से या पृथ्वी तत्व के बढ़ने पर इन महाभूतों से बने पांचभौतिक द्रव्यों के द्वारा ही समान अवस्था में लाया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारा शरीर एवं चिकित्सा पंचमहाभूतों पर आधारित है।

पंचमहाभूत-विशेष विवेचन- इन समस्त भूतों के सहयोग से ही समस्त जीव एवं सृष्टि की उत्पत्ति सम्भव है तथा प्रत्येक वस्तु के विनाश में भी ये पांचों कारण है।

महाभूतों की उत्पत्ति- सृष्टि के प्राकृत सर्ग में महाभूतों की उत्पत्ति अपनी-अपनी तन्मात्रा से होती है समस्त महाभूतों की उत्पत्ति की सूक्ष्म इकाई का नाम तन्मात्रा है जिन्हें परमाणुरूपा भी कहा जाता है। वे समस्त परमाणु अपने-अपने विशेष गुण युक्त होते हैं तथा उन्हीं संयोग से पञ्च या समुदाय रूप महाभूत प्रकट होते हैं।

उत्पत्ति क्रम- इस प्रकार प्रत्येक महाभूत उपर्युक्त क्रम से उत्पन्न होता है। इसमें स्वयं की तन्मात्रा के साथ अपने पूर्व के महाभूतों की तन्मात्रा का भी सहयोग होता है।

आकाशाद् वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी अर्थात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति होती है।

महाभूतों के गुण- महाभूतों में क्रमशः आकाश में शब्द, गुण, वायु में स्पर्श गुण, अग्नि में रूप गुण, जल में रस गुण तथा पृथ्वी में गन्ध **विशेष गुण** होते हैं। इन महाभूतों के विकास क्रम में निरन्तर गुणों की वृद्धि होने से उत्तरोत्तर महाभूतों में पूर्व के महाभूतों के गुणों की भी अभिव्यक्ति होती है क्योंकि इनके निर्माण में उन सभी महाभूतों का योगदान रहता है।

भौतिक संगठन- महाभूतों में परस्पर सभी भूतों का आनुप्राविश्य रहता है। सभी महाभूत प्राकृतिक रूप में एक दूसरे से भिन्न होते हैं तथापि एक दूसरे के सहायक हैं। इनके पारस्परिक गुण एवं धर्म भी विरुद्ध होते हैं फिर भी एक दूसरे के साथ रहते हुए प्रत्येक महाभूत के कार्यों में योगदान करते हैं।

महाभूतों के सत्वादि गुण- सृष्टि उत्पत्तिक्रम में पंचमहाभूतों की उत्पत्ति त्रिगुण के योगदान से होती है। अतः त्रिगुण का भी महाभूतों की उत्पत्ति में सगठन रहता है। इस कारण ही भूतों को तत्व भी स्वीकार किया गया है। आकाश सत्त्व गुण की बहुलता वाला है। वायु रजोगुण बहुल है, अग्नि सत्व-रजोगुण बहुल है, जल सत्त्व तमोगुण बहुल है, केवल पृथ्वी तमोगुण बाहुल्य से युक्त है। इसी कारण इनके स्वभाव में भी इन गुणों की प्रधानता देखी जाती है।

पृथ्वी महाभूत परिचय- तमोगुण की प्रधानता से ही पृथ्वी में स्थूलता, स्थिरता, गुरुत्व, आवरणता तथा आगे के विकास क्रम में अवरोध का ज्ञान होता है। तमोगुण ही उपरोक्त सभी क्रियाओं में प्रधान कारण है। ये सभी कर्म राजस एवं सत्व गुण के विपरीत है। शरीर में पार्थिवांश की कमी होने पर इन्हीं गुणों से युक्त द्रव्यों के सेवन के लिए निर्देश किया गया है।

जल महाभूत परिचय– सुश्रुत ने जल को सत्व व तमोगुण प्रधान बताया है। शास्त्रों में सत्व का स्वरूप शुक्ल एवं प्रकाशवान् बताया है। जल का भी इसी कारण वर्ण शुक्ल हैं तम के कारण ही जल में गुरुता तो है किन्तु पृथ्वी से कम एवं अन्य महाभूतों आकाश, वायु एवं अग्नि के बाद गुरुता में इसी का स्थान आता है। पृथ्वी में केवल तम के कारण गुरुत्व अधिक है जबकि जल में सत्वगुण भी साथ होने से गुरुत्व कम है।

तेज महाभूत परिचय – तेज महाभूत को सत्वरजोबहुल बताया है। अतः सत्वगुण के कारण प्रकाशक एवं रजोगुण के कारण प्रवृत्ति देने वाला है। इसी गुण के कारण तेज में उत्तेजकता आती है तथा ऊर्ध्वज्वलन की गति में कारण भी है।

वायु महाभूत परिचय – वायु को रजोबहुल बताया गया है। इसी गुण की प्रधानता से अन्य महाभूतों की अपेक्षा विशेष रूप से वायु में चंचलता रहती है। रजोगुण का संचलन गुण वायु महाभूत में विशेष रूप से देखा जाता हैं। मेघादि का प्रेरण, प्राणियों का प्राण संचारण तथा शरीर में अन्य तीनों दोष, धातु तथा मलों को गति प्रदान करना वायु में इसी के कारण है। वात्याचक्र आदि इसी के परिणामस्वरूप होते हैं।

आकाश महाभूत परिचय – आकाश सत्वगुणबहुल होता है इसी गुण के कारण सभी महाभूतों की उत्पत्ति एंव लय में समर्थ होता है तथा सभी को अपने अन्दर समाहित करने की क्षमता रखता है। वस्तुओं को बढ़ने एवं बाधारहित गति करने में सहायक होता है।

पंचमहाभूतों के कार्य :

आकाश के कार्य– शब्दोत्पत्ति, सजीव एवं निर्जीव वस्तु में सुषिर रचना, शरीर के स्रोत, धमनी, शिरा, आशय आदि की रचना, सूक्ष्मता एवं लघुता तथा सभी द्रव्यों में सुषितरता आकाश के कारण होती है। यह सुषिरता ठोस में भी प्रकट होती है जैसे घड़े से पानी रिसना, जल में अल्कोहल मिलाने पर आयतन में विशेष वृद्धि न होना तथा पानी में चीनी का घुलना आदि रूपों से स्पष्ट होती है।

वायु के कार्य– शरीर की इच्छा एवं अनिच्छा से होने वाली चेष्टायें तथा ज्ञानवह नाड़ियों में ज्ञान की प्रवृत्ति में स्पर्श ज्ञान की कारणता, शरीर के दोष, धातु, मलों की गतियां, सुषिरता, चेष्टा रूप कर्म तथा द्रव्यों में सूक्ष्मता, शीतलता, लघुता, खरता तथा चल आदि कर्म वायु के द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं। शरीर में पांचों प्रकार की वायु के कर्म भी वायु के विशेष कर्म को प्रदर्शित करते हैं।

अग्नि महाभूत के कार्य– आंखों में रूप का ज्ञान, अनेक रंगों का ज्ञान, शरीर में पांचों प्रकार के पित्तों की दैनिक प्रवृत्ति, शरीर की समस्त उष्मा एवं विभिन्न पाक प्रक्रियायें भी अग्नि के प्रमुख कर्म हैं, शरीर में बल, वर्ण, उत्साह को प्रकट करना, लोक में अग्नि महाभूत के द्वारा ही ताप एवं पाक प्रक्रियाओं का ज्ञान होता है।

जल महाभूत के कार्य– रसनेन्द्रिय से रस का ज्ञान कराना, समस्त प्रकार की आर्द्रता, स्निग्धता, गुरुता जल महाभूत के कारण है। समस्त सृष्टि में तीन भाग जल है। उसी से हमारे अनेक प्रकार के दैनिक कर्म होते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु के निर्माण में जल की भी प्रधानता है। शरीर के दोष, धातु एवं अंग-प्रत्यंगों को आर्द्र रखने का कार्य जल ही करता है। शरीर में अन्य महाभूतों की अपेक्षा जल की कमी होने पर शीघ्र मृत्यु तक होते देखी गई है।

पृथ्वी महाभूत के कार्य– घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान कराना, द्रव्यों में कठिनता, स्थिरता, गुरुता एवं आकृति प्रदान करने का कार्य पृथ्वी महाभूत का ही है। प्रत्येक पदार्थ का आधार भी पृथ्वी है।

शरीर का भौतिकत्व– आचार्य चरक ने सभी द्रव्यों को पांचभौतिक बताते हुए **''सर्वद्रव्यं पांचभौतिकम्''** कहा है। प्रत्येक द्रव्य में यद्यपि एक महाभूत की प्रधानता होती है फिर भी महाभूतों का सामूहिक योगदान भी आवश्यक समझा गया है। शरीर में अन्य महाभूतों के भाव होते हुए भी पृथ्वी तत्व की अधिकता से ही इसे पार्थिव कहा जाता है अतः पार्थिव होते हुए भी शरीर पांचभौतिक है। शरीर की प्रत्येक स्वस्थ एवं आतुर अवस्थाओं में की जाने वाली सभी क्रियाएं पांचभौतिक आधार पर स्थित है। शरीर की स्थिति सम रखने हेतु आहार एवं औषध रूप में उन्हीं द्रव्यों का प्रयोग भी किया जाता है।

जो-जो भाव लोक में हैं वे ही भाव शरीर में है। सुश्रुत ने सोम, सूर्य व वायु के समान भाव श्लेष्मा पित्त एवं वात के बताए हैं।

प्रश्न : त्रिदोष एवं रसों का भौतिक सम्बन्ध स्पष्ट करें?

उत्तर : त्रिदोष का भौतिक संगठन–

''**वाय्वाकाशाभ्यां वायु:**'' वात में = वायु + आकाश महाभूत

''**आग्नेयं पित्तम्**- पित्त में = अग्निमहाभूत (अन्यत्र जल+अग्नि)

''**अम्भ:पृथ्वीभ्यां श्लेष्मा**'' कफ में = जल + पृथ्वी महाभूत

रसों का भौतिक संगठन-

1. मधुर = जल + पृथ्वी
2. अम्ल = पृथ्वी + अग्नि
3. लवण = जल + अग्नि
4. कटु = वायु + अग्नि
5. तिक्त = वायु + आकाश
6. कषाय = वायु + पृथ्वी

जिस प्रकार संसार के सभी कार्य द्रव्यों का आधार एवं स्थिति पंचमहाभूतों पर आधारित है उसी प्रकार प्राकृतिक त्रिदोष भी शरीर के निर्माता, धारण करने वाले एवं विनाश के प्रमुख कारण है।

गर्भ शरीर को उत्पन्न करने वाले प्राकृतिक तत्व शुक्र शोणित भी पांचभौतिक है।

महाभूतों के भौतिक गुण- पांचों महाभूतों के भौतिक गुणों का निर्देश करते हुए चरक में लिखा है कि पृथ्वी में **खरत्व,** जल में **द्रवता** वायु में **चलत्व**, तेज में **उष्णत्व** और आकाश में **अप्रतिघात** (रुकावट न देना) भौतिक गुण हैं। इन सभी भौतिक गुणों का ज्ञान स्पर्श के आधार पर होता है।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिंगं यथाक्रमम्।। (च०शा० 1/29)

प्रश्न : भूतानुप्रवेश से क्या समझते हैं समझाइये?

उत्तर : महाभूतों में परस्पर भूतानुप्राविश्य रहता है। एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी निर्माण में एक दूसरे की सहायता करते हैं। इसी कारण भूतों के गुण एवं स्वरूप प्रत्येक वस्तु में दृष्टिगोचर होते हैं यथा–

1. शब्द तन्मात्रा से आकाश महाभूत।
2. शब्द + स्पर्श तन्मात्रा से वायु महाभूत।
3. शब्द + स्पर्श + रूप तन्मात्रा से अग्नि महाभूत।
4. शब्द + स्पर्श + रूप + रस तन्मात्रा से जल महाभूत।
5. शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी महाभूत।

उपरोक्त निर्माण क्रम में महाभूतों के संयोग का सामान्य प्रतिशत इस प्रकार है।

प्रत्येक महाभूत के स्वयं का आधा भाग तथा अन्य महाभूतों का आधे भाग में अवस्थित माना गया है। इसी के आधार पर अधिकता वाले महाभूत के विशेष लक्षण प्रकट होते हैं शेष अप्रत्यक्ष एवं अप्रकट में रहते हैं। अत: सभी वस्तुएं भी पंचीकृत हैं। महाभूतों में भी पृथक् रूप में केवल उनकी बीजरूप सूक्ष्म तन्मात्राएं रहती हैं।

आकाश = शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गन्ध	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8	1/8
वायु = स्पर्श + शब्द + रूप + रस + गन्ध	''	''	''	''	''	''
तेज = रूप + शब्द + स्पर्श + रस + गन्ध	''	''	''	''	''	''
जल = रस + शब्द + स्पर्श + रूप + गन्ध	''	''	''	''	''	''
पृथ्वी = गन्ध + शब्द + स्पर्श + रूप + रस	''	''	''	''	''	''

आयुर्वेद में महाभूतों का महत्व : आयुर्वेद में भी दर्शनों के अनुसार पंचमहाभूतों का विशेष महत्व दृष्टिगोचर होता है।

1. गर्भ में शरीर के अवयव निर्माण में भी पंचमहाभूतों की कारणता देखी जाती है। (लेखक की शरीर रचना विज्ञान में देखें)।

2. कुछ आचार्य पांचभौतिक प्रकृतियां भी स्वीकार करते हैं। स्वयं सुश्रुत वातज, पित्तज, कफज, प्रकृतियों में वायव्य, आग्नेय और जलीय महाभूतों के लक्षण एवं कारणता मानते हैं। इसी प्रकार पार्थिव एवं नाभस प्रकृति के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

3. रस एवं त्रिदोष के निर्माण में भी महाभूतों की कारणता देखी जाती है।

4. द्रव्यों का वर्गीकरण भी पार्थिवादि भेद से पांच प्रकार का किया गया है।

5. धातुओं के निर्माण में भी पंचमहाभूतों की कारणता देखी जाती है। आयुर्वेद का चिकित्स्यपुरुष तथा चिकित्सा में उपयोगी द्रव्यों का व्यवहार भी पांचभौतिक गुणों के आधार पर किए जाने से ही पंचमहाभूतों का विशेष महत्व देखा जाता है।

इस दृष्टि से सभी कार्य द्रव्य एवं संसार की सभी प्रक्रियाओं में साक्षात् अथवा परोक्ष रूप में इन्हीं महाभूतों की कारणता सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न : सृष्टि उत्पत्ति की विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन करें?

उत्तर : सृष्टि उत्पत्ति क्रम में जिन विशिष्ट सिद्धांतों का ज्ञान आवश्यक है उनमें निरन्तर गतिशील प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप विकास होते हुए आज के स्वरूप कैसे पहुंचे इसका वर्णन आगे किया जा रहा हैं-

उपनिषदों द्वारा सृष्टिक्रम- वैदिक दृष्टि से सृष्टिक्रम का विकास उपनिषदों में मिलता है। 108 उपनिषद् बताये गये हैं-इनमें आत्मा, ब्रह्म आदि को प्रमुख मानते हुए सृष्टि रचना का क्रम बताया है जिसमें ऐतरेयोपनिषद् का विवरण दिया जा रहा है-सृष्टि निर्माण से पूर्व एकमात्र परमात्मा था इस सृष्टि के प्रारम्भ में उसने सोचा कि प्राणियों के विभिन्न कर्म-फल भोग हेतु लोकों का निर्माण करूं। परिणामस्वरूप-महः जनः तपः और सत्यलोक तथा अन्तरिक्ष, मृत्यु व पाताल नामक सात लोक रचे। लोक रचना के पश्चात् हिरण्यमयपुरुष ने ब्रह्म को उत्पन्न किया। विकास क्रम में इसी से लोकपाल एवं प्रजापतियों की रचना हुई। परमात्मा का यह संकल्प हिरण्यगर्भ पुरुष में, जो अण्डे के रूप में था, फटकर मुख छिद्र बना, मुख से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई इसी से अधिष्ठातादेवता अग्नि उत्पन्न हुआ। रसना इन्द्रिय से उसका अधिष्ठाता देवता, नासिका के दोनों छिद्र निकलने फिर प्राण वायु से वायु देवता उत्पन्न हुआ। घ्राणेन्द्रिय एवं उसके देवता आश्विनी की उत्पत्ति भी उसी से हुई। फिर आंख के दोनों छिद्र निकले जिनसे सूर्य प्रकट हुआ। फिर कानों के रन्ध्र श्रोत्रेन्द्रिय तथा उनके देवता से दिशा उत्पन्न हुई। फिर त्वचा प्रकट हुई, फिर हृदय, मन एवं मन का देवता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। फिर नाभि, अपानवायु, गुदा, उसका अधिष्ठाता देवता मृत्यु उत्पन्न हुआ, लिंग से वीर्य और वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई, उसी से उसके देवता प्रजापति की उत्पत्ति हुई यहां तक कि सम्पूर्ण सृष्टि शरीर रहित है। इसके बाद प्राणियों की उत्पत्ति हुई।

वैशेषिक मतानुसार : परमेश्वर ही सृष्टि के कर्त्ता एवं विनाश करने वाले है। उसकी अपनी इच्छा से सृष्टि निर्माण एवं विनाश होता रहता है। पूर्व जन्म के कर्म फल भोगने के लिए ही सृष्टि का निर्माण किया जाता है। इस रचना में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष समवाय अपना-अपना कार्य करते हैं। इन्हीं से पृथ्वी, जल तेज, वायु के परमाणुओं से स्थूल महाभूत एवं उसें आकाश, आत्मा और मन के संयोग से समस्त जड़ और चेतन सृष्टि का निर्माण होता है।

उत्पत्ति के समय सर्वप्रथम वायु के परमाणुओं में स्पन्दन होता है। इससे ही द्व्यगुण और बृहत् संयोग रूप में वायु महाभूत की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम में जल, पृथ्वी और तेज परमाणुओं में स्पन्दन होकर जल महाभूत, पृथ्वी महाभूत व तेज महाभूत की उत्पत्ति होती है। फिर तेज और पृथ्वी के परमाणु मिलकर हिरण्यगर्भ नामक अण्ड की उत्पत्ति करते हैं। इसी से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की अग्रिम रचना की जाती है। जीवों के धर्माधर्म कर्म के अनुसार शरीर और भोगनेयुक्त फल प्रदान करते हैं। ब्रह्मा पितामह कहलाते हैं। क्रमशः प्रजापति, मनु देवता, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैय और शूद्र एवं नाना योनियों को उत्पन्न करते हैं। यह चक्र कर्म फल भोगने के लिए चलता ही रहता है जब योनियों में भ्रमण करते हुए जीव के कर्मों की गति मन्द पड़ जाती है तब प्रलय होती है इसका प्रमाण ब्रह्मा की सौ साल की आयु बताया गया है। पृथ्वी का एक युग ब्रह्मा का एक दिन-रात माना जाता है।

वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा) के अनुसार- इसमें अनेक सम्प्रदाय हैं जिनमें अद्वैत वेदान्त दर्शन दार्शनिक चिन्तन के विकास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शंकराचार्य का मत होने से इसे शांकर वेदान्त भी कहते हैं। इसमें दो विचारधाराओं का वर्णन किया है- 1. पारमार्थिक दृष्टिकोण, 2. लौकिक दृष्टिकोण। माया मोह के बन्धन में फंसे प्राणियों के लिए लौकिक दृष्टि से ब्रह्मा सगुण और साकार है और पारमार्थिक विचारधारा में जगत् को मिथ्या और भ्रमपूर्ण बताया है, तथा लौकिक दृष्टि से उसकी वास्तविकता बताई है। यह स्वप्न के समान है। जब तक मनुष्य स्वप्न देखता है तब तक उसे वास्तविक समझता है किन्तु जागने पर मिथ्या लगता है। अत: **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का विशेष सिद्धांत है।

सांख्य मत : इस दर्शन मत में प्रकृति एवं पुरुष दो ही तत्व परस्पर संयोग से सृष्टि निर्माण करते हैं। इनमें प्रकृति जड़ होते हुए भी क्रियाशील है तथा पुरुष चेतन होते हुए भी निष्क्रिय है। इसका समाधान भी अन्धे व लंगड़े के संयोग की तरह किया गया है। जो एक-दूसरे का सहायक होकर गन्तव्य तक पहुच जाते हैं। त्रिगुणात्मिका सृष्टि के विकास क्रम से होने वाले उत्पत्ति क्रम का आगे विशेष वर्णन तालिका द्वारा दिखाया गया है।

योग दर्शन मत : योग दर्शन में सृष्टि उत्पत्तिक्रम को सांख्य के समान स्वीकार करते हुए पच्चीस तत्वों को मान्यता दी है तथा ईश्वर को पृथक् तत्व स्वीकार किया है। अत: योग दर्शन में तत्वों की संख्या 26 बताई गई हैं।

जैन दर्शन : इस दर्शन में सृष्टि का आरम्भ कहां से हुआ इस बात को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं किया गया है। इसे अनादि बताया है तथा यह भी लिखा है कि अनन्तकाल तक चलेगा। अन्य बातों का यथावश्यक विवरण यथास्थान दिया है। विस्तारभय से खण्डन एवं मण्डन को भी यहां नहीं दिया जा रहा है।

बौद्ध : बौद्ध दर्शन में कई शाखायें हैं उनके विचार भिन्न होते हुए भी समान है। **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** वाद के सभी समर्थक हैं। अर्थात् इस मत में सुश्रुत के **'स्वभाव'** सिद्धांत की पुष्टि मिलती है। किन्तु यहां चेतना की कारणता को स्वीकार नहीं किया गया है।

इन्हीं दर्शनों के साथ विविध धर्मों के अन्य मतों पर भी सामान्य विचार किया जाना चाहिए जिनका लोक व्यवहार में प्रचलन है।

प्रश्न : तैतीरियोपनिषद का सृष्टि उत्पत्ति क्रम बताइयें?

उत्तर : तैतीरियोपनिषद् में सृष्टि उत्पत्ति क्रम

''सोऽकामयत्। बहुस्यां प्रजायेयेति'' अनु०6 बल्ली2

सर्ग के प्रारम्भ में परब्रह्म परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं नाना रूप में उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊं। यह विचार करके उन्होंने तप किया अर्थात् जीवों के कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करने के लिए संकल्प किया एवं जड़ चेतनमय समस्त जगत की रचना की इसके बाद स्वयं भी उसमें प्रवेश कर गये। प्रवेश होने के बाद मूर्त एवं अर्मूत रूप से अर्थात् देखने में आने वाले पृथ्वी, जल और तेज इन भूतों के रूप मुें तथा वायु एवं आकाश इन दिखाई देने वाले भूतों के रूप में प्रकट हो गये। तथा इन्हीं के नाना पदार्थ रूप में हो गये। अत: यह जो कुछ देखने, सुनने एवं समझने में आता है यह सब का सब सत्य स्वरूप परमात्मा ही है।

इन पर ब्रह्म परमेश्वर के भय से पवन नियमानुसार चलता है। इन्हीं के भय से सूर्य ठीक समय पर उदय होता है तथा ठीक समय पर अस्त होता है। इन्हीं के भय से अग्नि रस एवं मृत्यु ये सभी अपना अपना कार्य नियम पूर्वक सुव्यवस्थित रूप से कर रहे है। यदि इनका प्रेरक कोई नहीं हो तो जगत के सम्पूर्ण कार्य कैसे हो सकते है। इससे सिद्ध होता है कि किस भी बनाने वाला, सभी को यथा योग्य नियम पूर्वक चलाने वाला कोई एक सत्य ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप पर ब्रह्म परमात्मा अवश्य है।

1. पौराणिक परम्परा- शुक्रदेव जी ने जनक से पूछा कि संसार रूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ? जनक ने कहा कि मन के विकल्प से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

2. योगवासिष्ठ- का भी यह मत है कि **'मन'** का विकास सृष्टि का विकास है।

3. भागवत के अनुसार- सृष्टि एवं सर्ग का वर्णन करते हुए भागवत में लिखा है कि-

गुणव्यतिकराकारोऽनिर्विशेषोऽप्रतिष्ठित: ।

पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्।।11
विश्वं वैब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना।।12
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।
सर्गो नवविधस्यास्य प्राकृतोवैकृतस्तु यः।।13 (भगवान स्क०3 अ० 10)

अर्थात् प्रारम्भ में संहनन रूप और स्वतः निर्विशेष एवं अनिर्वचनीय होने के कारण असत् नाम रूप एवं उपाधि रहित पुरुष था। काल, कर्म, स्वभाव आदि सामग्री से वह अपनी माया द्वारा अपने ही स्वरूप में प्रकट हुआ। उस अव्यक्त रूप काल ने ही यह समस्त ब्रह्माण्ड व्याप्त है। वह बीज रूप पहले भी था, अब भी है एवं प्रलय के बाद भी रहेगा। अतः अवस्थानन्तर होना ही उत्पत्ति शब्द का अभिप्राय मालूम होता है। यही वास्तविक सर्ग 9 प्रकार का है। इसे प्राकृत एवं वैकृत रूप में जाना जाता है।

विभिन्न पुराण दिग्दर्शन- सभी पुराणों में मुख्य 5 विषयों का वर्णन आया है। जिनका वर्णन शुक्रनीति में इस प्रकार किया गया–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराण पञ्चलक्षणम्।। 4/63/34

अर्थात् सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित उन पांच प्रधान विषयों का पुराणों में विशेष उल्लेख है। अतः सर्ग एवं प्रतिसर्ग दो प्रधान विषय सृष्टि उत्पत्ति में क्रम की विवेचना करते हैं।

सर्ग : इसके अन्तर्गत सूक्ष्म तत्वों की रचना, उनका विकास, अपक्षय एवं तिरोभाव का वर्णन आता है।

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽन्वहम्।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते।। भागवत 12/7/11

अर्थात् जिसकी अव्यक्त आकृति हो ऐसे साम्यावस्थायुक्त प्रधानतत्व के तीनों गुणों से (अर्थात् हलचल होने या वियोग होने से) महतत्व एवं उसके अहंकार तथा अहंकार से पंच तन्मात्राओं एवं पंच भूत, सूक्ष्म इन्द्रियों तथा इनके इन्द्रियार्थों को ही सर्ग (सृष्टि) कहा जाता है।

प्राकृतिक सर्ग : इसमें प्रथम 6 सर्गों में सूक्ष्म भूतत्वों का वर्णन किया गया है यह मत भागवत का हैं। इनमें प्रथम (1) सर्ग महतत्व का है जो ईश्वर के गुणों की विषमता मात्र ही है। 2. दूसरा सर्ग अहंकार है, जिसमें द्रव्य का ज्ञान एवं क्रिया का उदय होता है। 3. तीसरा सर्ग भूत सूक्ष्म हैं, जिन्हें तन्मात्रा कहा जाता है एवं महाभूतों का उत्पादक यही सर्ग है। 4. चौथा सर्ग इन्द्रियों का है जो ज्ञान कर्म का साधन रूप है। 5. पांचवां सर्ग इन्द्रियों के अधिष्ठानों का है तथा इसे ही मन का भी सर्ग माना जाता है। 6. छठा सर्ग तम का बताया गया है जो पांच भेदों वाली अविद्या, आवरण एवं विक्षेप रूप से पुरुषों की बुद्धि को मोहित करता है। इस प्रकार ये छः भेद प्राकृत सर्ग के बताये गये हैं।

प्रतिसर्ग :

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजचराचरम्।। भाग०-12-7/12

अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह से पूर्व में बताए हुए महत्तत्व आदि में जो प्रलय से पूर्व रहने वाले जीवों की कर्म वासना थी। उस कर्म वासना रूप बीजों से स्थूल जगत् में सभी पदार्थों की अर्थात् बीज से बीज एवं चराचर की होने वाली उत्पत्ति को ही **'प्रतिसर्ग या विसर्ग'** कहा जाता है।

उपरोक्त श्लोक का आशय है कि जिस प्रकार पृथ्वी में अज्ञात रूप से बिखरे हुए बीजों के द्वारा वर्षा ऋतु में अनेक प्रकार के लता, गुल्मादि वनस्पतियां स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार पूर्व शरीर सृष्टि रूप पृथ्वी में रहने वाले जीवों के शेष रहे वासनामय कर्मादि के संस्कारों से पुनः सृष्टि की रचना के समय अनेक भोग्य पदार्थ एवं उनके भोक्ता प्राणियों का प्रादुर्भाव हो जाता है यही प्रतिसर्ग है।

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः 3/10/18 भा०

वैकृत सर्ग : इस विषय में भागवत स्कन्ध 3 अध्याय 10 में वैकृत सर्ग का वर्णन करते हुए लिखा है कि 6 सर्ग सूक्ष्म तत्वों का था अब सातवां सर्ग उद्भिज्जों का बताया गया है जिसमें भूमि को फाड़कर निकलने वाले वृक्ष, लता गुल्मादि आते हैं। इनके छः भेद बताते हुए लिखा है–1. **वनस्पति**–जिनमें फल तो लगते हैं किन्तु पुष्प दिखाई नहीं देते हों। 2. **औषधि**–फल पकने तक तो हरे रहते हों एवं फल पकने पर सूख जाने वाले। 3. **बेलें**–जिसमें सभी प्रकार की बेलों का समावेश किया है। 4. **त्वक्सार**–वनस्पतियों के सारों का वर्णन किया है जैसे वंशलोचन। 5. **वीरुध यथा लता एवं गुल्मक।** 6. **द्रुम** अर्थात् फूलने व फलने वाले वृक्ष। इन छः वर्गों में वर्णित सजीव प्रायः नीचे से ऊपर आहार लेने वाले हैं। इनकी चेतना अव्यक्त होने से स्पर्श मात्र से अनुभव करने वाले हैं यही सातवां सर्ग है।

आठवां सर्ग पशु एवं पक्षियों का है जो सभी इस ज्ञान से शून्य होते हैं अर्थात् कल क्या होगा। केवल भोजन मात्र का ज्ञान रखते हैं एवं सूंघकर वस्तु पहचानते हैं। ये सर्वथा अदूर-दर्शी होते हैं। पशुओं में कुछ द्विशफा तथा कुछ एकशफा तथा कुछ नख वाले होते हैं।

द्विशफा : गाय, भैंस, बकरी, हिरण, सूअर, नीलगाय, बारहसींगा, भेड़, ऊंट आदि 9 फटे खुर वाले होते हैं।

एकशफा : गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर (खच्चर एवं घोड़े से उत्पन्न) शरभ (अष्टपद मृग) तथा चमरी मृग ये छः एक खुरवाले होते हैं।

नखधारी : कुत्ता, गीदड़, चीता, व्याघ्र, बिलाव, शशक, सिंह, वानर, हाथी, कछुआ, गोह आदि पांच नाखूनों वाले हैं। इस प्रकार ये सभी मिलकर 27 वर्ग हैं इसी के अन्तर्गत अन्य पशुओं की गणना भी की जाती है। 28वां भेद पक्षियों का है-कंक, गीध, चकवा, काक, श्येन, उल्लूक, मोर, हंस, सरभ, बटेर, बाज, उल्लू आदि खग हैं। शेष पक्षी भी इन्हीं की श्रेणी में आ जाते हैं।

नवां सर्ग मनुष्यों का है, जो ऊपर से नीचे की ओर आहार ग्रहण करते हैं ये रजोगुण प्रधान होते हैं। निरन्तर कार्यशील तथा सुख एवं दुःख का अनुभव करने वाले हैं इन्हीं द्वारा समस्त प्राणियों पर नियन्त्रण होता है।

स्वामी दयानन्द मत- सृष्टि के आरम्भ के विकास पर विचार व्यक्त करते हुए स्वामी जी अपने सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि– 1. तिब्बत की पर्वत चोटियों पर निराकार ब्रह्म ने स्वस्थ युवा-युवतियों के जोड़े उत्पन्न किये।

प्रश्न : जवान ही क्यों पैदा किये?

उत्तर : बालक पैदा होते तो उनका पालन कौन करता एवं वृद्ध उत्पन्न होते तो **'पतिमेकादशं कृधि'** को अमल में कैसे ला सकते थे। अर्थात् मैथुनी सृष्टि न होती। (सत्यार्थ प्रकाश आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट पृष्ट 150) यहां संक्षिप्त सार ही लिया गया है।

1. चार्ल्स डार्विन ने इस विषय पर विचार व्यक्त करते हुए संसार की उत्पत्ति को क्रमशः माना है। अर्थात् पानी में हलचल पैदा हुई उससे अनेक प्रकार के जीवों का परिणाम स्वरूप विकास हुआ। जैसे निर्जीव से सूक्ष्म जीव, बड़े जीव, वनमानुष तथा मनुष्य आदि।

2. पाइथोगोरस ने सृष्टि को 'कान्स्न्मास' कहा है। 19वीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र से प्राणिशास्त्र को पृथक् मानने लगे। यही कारण है कि मैथुनी सृष्टि के सहयोग से विकास हुआ।

3. वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मूल तत्व इलेक्ट्रोन नामक अतिसूक्ष्म विद्युत् कणिकाओं से बने हैं। इस प्रकार संख्या की दृष्टि से भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान का सामञ्जस्य हो जाता है क्योंकि दर्शन भी द्रव्यों की उत्पत्ति एक प्रकृति या अव्यक्त से मानते हैं। प्रकृति और विद्युत्कणिका स्वरूप में समान है या नहीं, इस पर विचार किया जा रहा है, फिर उत्पत्तिक्रम का स्रोत तो प्राचीन भारतीय परम्परा के समान ही है।

4. इस प्रकार वैशेषिक के परमाणुओं की गति ईश्वर द्वारा होती है। जबकि आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार भौतिकवादी सिद्धान्त यह है कि अनादिकाल से अनन्त दिक् (Space) में अनन्त परमाणुओं के भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने के कारण परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से संसार बनता है।

प्रश्न : सांख्यदर्शनानुसार प्रकृति पुरुष से सृष्टि उत्पत्ति क्रम बताइयें?

उत्तर : इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्व माने गये हैं। इनमें प्रकृति त्रिगुणात्मक, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं। इसके विपरीत पुरुष त्रिगुणातीत, चेतन और अप्रसवधर्मी है। इनमें प्रकृति सक्रिय होते हुए भी अचेतन है। जबकि पुरुष निष्क्रिय होते हुए

भी चेतन है। फिर भी दोनों से ही सृष्टि रचना होती है। दोनों भिन्न होते हुए भी किस प्रकार एक दूसरे का संयोग करते हैं इसके लिए अंधे और लंगड़े का उदाहरण दिया गया है जिसका आगे विवेचन करेंगे।

महत्व एवं अहंकारोत्पत्ति :

प्रारम्भ में तीनों गुण, सत्व, रज एवं तम साम्य अवस्था में रहते हैं। किन्तु जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग या सम्पर्क में आती है तब इनमें एक प्रकार की हलचल प्रारम्भ हो जाती है। रजोगुण स्वाभाविक रूप से चंचल होने से, सर्वप्रथम उसी में ही स्पन्दन प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् सत्व और तम में भी हलचल की क्रिया प्रारम्भ होती है। प्रारम्भ में सत्व की अधिकता से महान् की उत्पत्ति होती है। इसी को बुद्धि तत्व भी कहा जाता है। प्रकृति का दूसरा विकार अहंकार है इसमें रज की प्रधानता होती है। यह महान् से उत्पन्न होता है। गुणों की प्रधानता के अनुसार सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का हो जाता है। राजस अहंकार गतिशील होने से सात्विक अहंकार से मिलकर एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति करते हैं और राजस का तामस से संयोग होने पर पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह पच्चीस तत्वों की विकास परम्परा कही जाती है।

प्रकृति से लेकर पंच-महाभूतों तक की परम्परा को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। 1. प्रत्ययसर्ग (बुद्धिसर्ग) तथा 2. तन्मात्रसर्ग (भौतिकसर्ग। प्रथम सर्ग में बुद्धि अहंकार एवं एकादश इन्द्रियां हैं तथा दूसरी अवस्था में पंचतन्मात्राएं, महाभूत और उनसे उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य द्रव्य रूपी विकार आते हैं। इस प्रकार सृष्टि का क्रम बताया गया है।

न्याय दर्शन में सृष्टि निर्माण :

स्यादेतत् परमेश्वरस्य जगन्निर्माणे प्रवृत्ति : संस्कार का निर्माण ईश्वर की प्रवृत्ति से हुआ है। प्रयोजन के उद्देश्य से ही ईश्वर सृष्टि निर्माण करता है। क्यों जो भी कार्य होता है उसका कोई कर्ता अवश्य होता है। ईश्वर की सत्ता के लिए शास्त्र को प्रमाण माना गया है। सम्पूर्ण संसार के जड़ एवं चेतन का निर्माण ईश्वर ने किया है। इसी सृष्टि के संचालन हेतु न्याय में 12 प्रमेयों का वर्णन किया जो आत्मा, इन्द्रिय, इन्द्रिय, मन शरीर आदि है। ये सभी प्रवृत्तियां मोक्ष प्राप्ति एवं कर्म फल योग के लिए की गई है।

शर्कराचार्य : इन्होंने सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा को बताया है जो परमात्मा है। इन्होंने पञ्चार्थवाद का निरूपण किया है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश तथा नियमन ये ब्रह्म के विषय है। यह ब्रह्म ही सत्ता है निष्फल है किन्तु सगुण का आरोपण करके उसकी शक्तियों की प्रशंसा, उपनिषदों में की गई है।

''**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति**'' यह अद्विती ब्रह्म सृष्टि का निर्माता है। यही स्थिति एवं नियमन का कारण है। इस प्रकार सृष्टि आदि क्रियाओं द्वारा ब्रह्म की प्रशंसा की गई है।

प्रश्न : अष्टविध प्रकृति का वर्णन कीजिए?

उत्तर : व्यक्त, अव्यक्त- संसार में दो प्रकार के तत्व हैं एक वे जिन्हें व्यक्त किया जा सके तथा दूसरे वे जिन्हें व्यक्त या प्रकट करना कठिन है इन दोनों को व्यक्त और अव्यक्त के नाम से पुकारा जाता है। आयुर्वेद में दोनों ही प्रकार के तत्वों का वर्णन हैं।

व्यक्त : 'सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥... सांख्य के अनुसार चरक के अनुसार जो उत्पत्ति धर्म वाला है, जो कारणवान् है वह अनित्य है। अत: अनित्य एवं इन्द्रियग्राह्य होने से व्यक्त है अव्यक्त एवं प्रकृति को छोड़कर 23 तत्व व्यक्त कहलाते हैं। इसी व्यक्त को क्षेत्र कहते हैं।

अव्यक्त : व्यक्त के ठीक विपरीत जो अहेतु, नित्यव्यापी, निष्क्रिय, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है वह अव्यक्त कहलाता है, भाव यह है कि जो समस्त सृष्टि उत्पत्ति का कारण किन्तु स्वयं अकारण, त्रिगुणातीत अष्टविध रूपवाला तत्व है, वह अव्यक्त है। अत: उत्पत्ति एवं विनाशरहित अनादि एवं अनन्त है, विभु होने से व्यापक है इसमें गुण भी समावस्था में रहते हैं।

महान् : इसे बुद्धि तत्व भी कहा गया है। सृष्टि परम्परा में अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिका में इसका लक्षण बताते हुए लिखा है कि-

अध्यवसायी बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्॥ (23)

अध्वसाय ही बुद्धि का लक्षण है। अर्थात् घट, पट आदि को जिसके द्वारा जाना जाता है वह अध्यवसाय है। यह बुद्धि दो प्रकार की है–सात्विक एवं तामस। इनमें सात्विक बुद्धि धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य रूप चार प्रकार की है–

अहंकार :

अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रापंचकमेव॥ (कारि०24)

अभिमान को अहंकार कहा जाता है। यह आलोचनायुक्त मत है। जब बुद्धि या महान् में, मैं कर रहा हूं, मेरे लिए ही ये सभी विषय है, मेरी ही सामर्थ्य है, मेरे अतिरिक्त किसी का अधिकार नहीं है इत्यादि सभी भाव अहंकार कहलाते हैं। अहंकार में अभिमान का रूप व्यक्त होता है। यही अभिमान का भाव पृथक्ता उत्पन्न करता है। त्रिगुणसम अवस्था में अहंकार के कारण विषमता आ जाती है। यह प्रकृति का दूसरा तत्व है। इसमें रजोगण की प्रबलता रहती है। यह महान् से उत्पन्न होता है तथा सात्विक, राजस एवं तामसिक प्रकृति से सोलह विकार एवं पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। इसी भाव के कारण व्यक्ति का अपने प्रति आकर्षण होता है। सांसारिक विषयों से लगाव होता है। व्यक्ति अहंभावना में स्वयं को कर्त्ता समझता है। इसी की त्रिगुण विषम अवस्था से नाना प्रकार की योजना एवं कार्य व्यवहारों में प्रवृत्त होता है।

प्रश्न : त्रिगुण के लक्षण, स्वरूप, उत्पत्ति एवं अन्योन्या श्रयित्व बताइयें?

उत्तर : सत्व, रज, तम रूप तीन गुणों को त्रिगुण कहा जाता है। पुरुष के द्वारा इनका उपयोग होने से व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के कहे गए हैं। इन्हीं के द्वारा संसार की प्रकृति बनती है। इन तीनों में से जिनके मिश्रण से जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उसकी प्रकृति इन्हीं के अनुसार होती है। सांख्य के अनुसार सात्विक और राजस से पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और उभयकारी मन तथा राजस और तामस से पंचतन्मात्रा तथा पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

स्वयं के प्रभाव से ये गुण परस्पर एक दूसरे को दबा देते हैं। जब सत्व प्रकट होता है तो रजोगुण और तमोगुण को दबाकर अपने प्रीति तथा प्रकाश धर्म को प्रकट करता है। जब रजोगुण उत्कृष्ट होता है तो वह सत्व और तम को दबाकर अप्रीति को प्रकट करता है। इसी प्रकार तमोगुण स्वप्रभाव प्रकट करता है।

लक्षण एवं स्वरूप :

सत्वं लघु, प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चंचलञ्ज रजः।
गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः॥ करि०13

तीनों गुणों में सत्व गुण लघु प्रकाशक अर्थात् ज्ञान कराने वाला तथा प्रिय होता है। रजोगुण उत्तेजक और चंचल (क्रियाशील) होता है। तमोगुण गुरु और आवरणकारी होता है।

त्रिगुणों का अन्योन्याश्रयित्व : ये गुण परस्पर अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनक, अन्योन्यमिथुन तथा अन्योन्यवृत्ति वाले हैं।

(1) परस्पर गुणों को पराभव करना **अन्योन्याभिभव** है। अर्थात् सत्वगुण प्रकट होने पर रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर प्रीति और प्रकाशात्मक होता है। जब रजोगुण प्रबल होता है तब सत्व एवं तम को दबाकर अप्रीति को प्रकट करता है। जब तमोगुण प्रबल होता है तब सत्व और रजोगुण को दबाकर विषाद और नियन्त्रण स्वरूप होता है। (2) इन गुणों का द्व्यणुक की तरह परस्पर आश्रित भाव होने से **अन्योन्याश्रय** रह जाते हैं। (3) ये गुण एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले होने से **अन्योन्यजनक** कहलाते हैं। जैसे किसी वस्तु की उत्पत्ति में कार्य कारणभाव देखा जाता है। (4) ये गुण विभिन्न गुण, लक्षण एवं स्वरूप वाले होने पर भी एक दूसरे के साथ रहने वाले हैं जैसे स्त्री–पुरुष एक दूसरे के साथ रहने वाले हैं। इसी **अन्योन्यमिथुन** संयोग द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इनका न तो कभी संप्रयोग ही देखा जाता है और न ही वियोग ही दृष्टिगोचर होता है अर्थात् ये परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं। (5) ये गुण एक दूसरे में रहने वाले भी हैं अतः इन्हें **अन्योन्यवृत्ति** वाला कहा जाता है। इसका भाव किसी भी वस्तु या व्यक्ति में देखा जा सकता है। जैसे एक ही व्यक्ति किसी को दु:ख देने वाला है वही दूसरे के लिए सुख देने वाला है तथा तीसरे व्यक्ति के लिए मोह उत्पन्न करने वाला है। प्रीति सत्व का गुण है, दु:ख रजस् का धर्म है तथा तम मोह उत्पन्न करने वाला है ये तीनों एक साथ एक ही वस्तु में देखे जाते हैं।

प्रश्न : सृष्टि उत्पत्ति के 24 तत्वों का वर्णन करें?

उत्तर : मूल प्रकृतिविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयाः स्तथाः।
षोड्शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृति पुरुषः॥

मूल प्रकृति : जो किसी वस्तु को उत्पन्न करने वाला हो किन्तु उसका कोई उत्पादक न हो उसे प्रकृति कहते हैं अर्थात् **'प्रकरोति' इति प्रकृतिः'** या जो अन्य तत्वों का उपादान कारण है उसे प्रकृति कहते हैं।

विकृति : जो केवल किसी के कार्य ही होते हैं। परन्तु अन्य तत्वों को उत्पन्न नहीं करते उन्हें विकृति कहते हैं। ये सात हैं-पंच तन्मात्रा, महान् एवं अहंकार।

अष्ट विकृति : महान् अहंकार और पंचतन्मात्रायें ये प्रकृति के सात रूप हैं। प्रकृति या अव्यक्त इनमें मिलकर आठ हो जाते हैं।

प्रकृति विकृति : जो तत्व किसी से उत्पन्न भी होते हैं तथा अन्य तत्वों की उत्पत्ति भी करते हैं वे सात हैं महान्, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्रा।

षोडश विकार या विकृति : जैसे महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) एवं पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां एवं मन को मिलाकर 16 (सोलह) विकार कहे गये हैं। इसके बाद तत्व परम्परा का अवसान होने से ये केवल विकार रूप में ही रह जाते हैं, केवलमात्र कार्य सृष्टि का निर्माण करते हैं।

न प्रकृति न विकृति : जो कार्य एवं कारण दोनों ही धर्म से शून्य हो उसे न प्रकृति न विकृति कहते हैं, यथा पुरुष। क्योंकि पुरुष न किसी से उत्पन्न होता है और न ही अन्य किसी तत्व को उत्पन्न करता है।

तत्व निरूपण : संसार के निर्माण में ये पंच तत्व अपने सूक्ष्म रूप विशेष मात्रा में ही आपस में मिले हुए होते हैं। उन सूक्ष्म तत्वों के ही कम या अधिक अंश से नाना प्रकार के द्रव्यों से भरा हुआ ये दिखाई देने वाला संसार है। सृष्टि का निर्माण करने वाले ये पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं। पंचतन्मात्रायें पंचमहाभूतों के ही सूक्ष्म रूप हैं जो दिखाई नहीं देती। इसलिए इनको अतीन्द्रिय कहते हैं। तनु विस्तारे धातु से तत्व सिद्ध है। तत्व के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध, चारवाक, मीमांसा आदि अनेक दर्शनों में भिन्न-भिन्न मत हैं। लेकिन सांख्य और आयुर्वेद दोनों के तत्व विचार आपस में मिलते-जुलते हैं। क्योंकि आयुर्वेदीय पदार्थ वर्णन में सांख्य के तत्व स्वीकार किए गए हैं जो युक्ति-युक्त और ठीक भी हैं।

दार्शनिक मत से सृष्टि-क्रम चार्ट

अव्यक्त (प्रकृति+पुरुष)
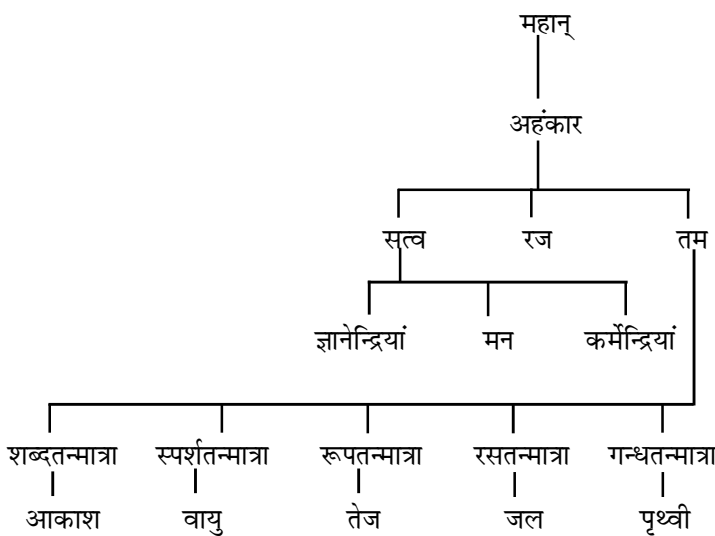
चरकोक्त चौबीस तत्वों का वर्णन :

चरक ने चौबीस तत्वों की उत्पत्ति एवं गणना इस प्रकार की है-प्रथम तत्व अव्यक्त है।
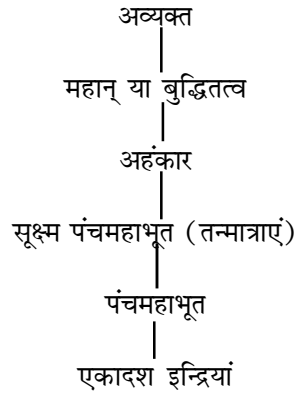
प्रश्न : साधर्म्य एवं वैधर्म्य का वर्णन करते हुए प्रकृति पुरुष का साधर्म्य एवं वैधर्न्य बताइयें?

उत्तर : कुछ ऐसे गुण जो बहुतों में समान रूप से पाए जायें वे गुण उन द्रव्यों के साधर्म्य कहे जाते हैं। अत: पांचभौतिक तत्व सभी में साधर्म्य हैं। दूसरी तरफ इन तत्वों का अनुपात प्रत्येक वस्तु में अलग-अलग है। अत: यह उनका वैधर्म्य या परस्पर विपरीतता हैं।

परिभाषा— समानो धर्मः साधर्म्यम्।
विरुद्धो विसदृशो वा धर्मो वैधर्म्यम्॥

समान धर्म का नाम साधर्म्य और विपरीत धर्म का नाम वैधर्म्य है। इसे साम्य और वैषम्य भी कहा जाता है।

प्रकृति पुरुष का साधर्म्य वैधर्म्य : इसी प्रकार प्रकृति व पुरुष में भी बहुत से गुणों में समानता तथा बहुत से भिन्न गुण भी हैं। इन्हीं समान और भिन्न गुणों का नाम साधर्म्य और वैधर्म्य है।

प्रश्न : प्रकृति पुरुष का साधर्म्य एवं वैधर्म्य स्पष्ट करें?

उत्तर : साधर्म्य

प्रकृति	पुरुष
1. प्रकृति अनादि है।	1. इससे पूर्व कोई नहीं है।
2. प्रकृति अनन्त है।	2. इसका भी कोई अन्त नहीं।
3. प्रकृति चिन्ह रहित है।	3. इसका भी कोई चिन्ह नहीं है।
4. प्रकृति नित्य हैं	4. यह निरन्तर है।
5. यह अपर है।	5. इससे भी परे कोई पदार्थ नहीं।
6. यह सर्वगत है।	6. यह सर्वव्यापी है।

वैधर्म्य :

प्रकृति	पुरुष
1. एक है।	1. अनेक हैं।
2. अचेतन है।	2. चेतनायुक्त है।
3. सत्व, रज, तम त्रिगुण को धारण करने वाली है	3. निर्गुण है।
4. बीजधर्मिणी है।	4. अबीजधर्मी है।
5. प्रसवधर्मी है।	5. अप्रसवधर्मी है।
6. अमध्यस्थधर्मी है।	6. मध्यस्थधर्मी है।

प्रश्न : चरक एवं सुश्रुतानुसार सृष्टि क्रम का वर्णन करें?

उत्तर : आयुर्वेदीय परम्परा में सृष्टिक्रम का वर्णन– आयुर्वेद भी लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों का विवेचन करता है अतः मोक्ष प्राप्ति हेतु तत्वों का वर्णन एवं लौकिक दृष्टि से सृष्टि और उत्पत्ति क्रम का भी वर्णन किया है। चरक और सुश्रुत के वर्णन का आधार सांख्य और वैशेषिक दर्शन ही हैं

सुश्रुत के अनुसार– दर्शनो के समान सुश्रुत ने कृति पुरुष को सृष्टि का आदि कारण बताया है। अव्यक्त से प्रकृति का भाव लिया है। इसी से सृष्टि क्रम को प्रारम्भ भी किया है–**अव्यक्तान्महानुत्पद्यते।** पुरुष को अनेक और चेतन मानते हुए विभु नहीं बताया। सुश्रुत ने भी तत्वों के दो वर्ग बनाए जिसमें प्रकृति से महाभूत तक 24 तत्वों का अचेतन वर्ग तथा 25वें पुरुष को चेतन वर्ग में रखा। जों इन तत्वों के साथ पुरुष का संयोग हो जाता है वहां प्रकृति जड़ रूप में बनी रहती है। यही क्रम प्रलयकाल तक चलता रहता है। सुश्रुत ने लिखा है कि अनुरूप और नित्य पुरुष धर्म अधर्म के कारण अनेक योनियों में विचरण करता है और शुक्र शोणित के संयोग से प्रकट होता है। इसलिए इसे कर्मपुरुष चिकित्सा अधिकारी पुरुष और षड्धातुज पुरुष भी कहा जाता है। सांख्य की तरह 24 तत्वों का उत्पत्ति क्रम बताया है। इन 24 तत्वों को प्रकृति और विकृति के रूप में विभाजित किया है।

चरक के अनुसार सृष्टि क्रम– चरक भी दार्शनिक प्रभाव से ओतप्रोत है। अतः सृष्टि क्रम और तत्व परम्परा सांख्य के अनुसार ही दर्शित होता है। अव्यक्त से बुद्धि, तत्व, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से सूक्ष्म महाभूत (या तन्मात्रा), सूक्ष्म महाभूतों से पंच महाभूत एवं एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। चरक में अव्यक्त, बुद्धि अहंकार और पंच तन्मात्राओं को प्रकृति तथा शेष पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मन्द्रियां, पांच महाभूत तथा मन 16 विकार कहे हैं।

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाऽष्टमः।
भूतपकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश।। 63
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः।। 64 (च०शा०1/63, 64)

अव्यक्त को चरक ने क्षेत्रज एवं अव्यक्त रहित शेष भूत प्रकृति को क्षेत्र कहा है। चरक के अव्यक्त में प्रकृति और पुरुष दोनों का समावेश है। यह इन्द्रियों से युक्त और अनित्य है। दार्शनिक विचारधारा के अनुसार ही पुरुष में व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त होने का क्रम तब तक बताया है जब तक रज और तम से मुक्त न हो जाये। इसी के साथ लय क्रम का भी वर्णन किया है।

चरक की सृष्टि विकास क्रम विशेषता :

1. चरक ने अनेक मतों का सामंजस्य करते हुए विकास क्रम बताया है।

2. पुरुष की कल्पना सांख्य और सुश्रुत दोनों से भिन्न है। नित्य पुरुष को अव्यक्त और अनित्य को राशिपुरुष कहा है। यही चिकित्सा का अधिकारी है।

3. प्रकृति के दो भेद बताते हुए अव्यक्त को मूल प्रकृति तथा अव्यक्त महान् अहंकार और तन्मात्राओं को मिलाकर भूत प्रकृति कहा है।

4. चरक ने इन्द्रियों को स्पष्ट रूप से भौतिक माना है एवं सूक्ष्म महाभूतों से उसकी उत्पत्ति बताई है।

5. प्रलय का विवरण देते हुए लिखा है कि प्रलय काल में पुरुष व्यक्त से अव्यक्त हो जाता है। अतः जन्म मृत्यु का कारण रज, तम दोनों का मन से सम्बन्धित होना माना गया है। इसी कारण महाप्रलय तक जन्म मृत्यु के चक्कर में जीव पड़ा रहता है।

6. सुश्रुत के महान् को चरक ने बुद्धि तत्व माना है।

7. चरक के वर्णन में यह भी विशेषता है कि उत्पत्ति के बाद जगत् में सभी क्रियायें पांचभौतिक परम्परा के अन्तर्गत मानी गई है। पांच महाभूतों से सभी द्रव्यों की उत्पत्ति और उनकी स्थिति बनी रहती है तथा विनाश में भी इन्हीं को कारण बताया है।

8. शरीर में दोष धातु मल भी भौतिक जगत् की तरह उत्पत्ति एवं विनाश में कारण माने गये हैं। इन्हीं के परिणामस्वरूप प्रतिक्षण शरीर में क्षय वृद्धि रूप परिवर्तन होता रहता है। जड़ और वनस्पतियों में भी उत्पत्ति वृद्धि और क्षय का क्रम निरन्तर देखा जाता है।

9. आयुर्वेद में (चरक द्वारा) जगत् का विनाश न मानते हुए अवस्थाओं में परिवर्तन माना गया है।

काल निरूपण

प्रश्न : काल की परिभाषा, लक्षण विभाग एवं व्युत्पत्ति बताइये?

उत्तर : ससार की समस्त क्रियाओं का आधार काल है। इस काल का न आदि है न अन्त है। यह निरन्तर गतिशील है। काल को दिशाओं में भी नहीं बांधा जा सकता। आयुर्वेद की समस्त क्रियायें भी काल पर ही आधारित है। काल के अनुमान से ही रोग का ज्ञान एवं निवारण किया जाता है। आयुर्वेद के विद्वान् काल को स्वयं उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसी कारण द्रव्यों में काल की पृथक् गणना करना एवं इसके महत्व के विषय में दर्शन एवं आयुर्वेद ग्रन्थों में विशेष वर्णन किया है।

परिभाषा :

1. वर्तमान, भूत एवं भविष्य का विभाजन करने वाले द्रव्य को काल कहते हैं।

2. उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक, जगत् का आश्रय तथा परत्व एवं अपरत्व बुद्धि को प्रकट करने वाले कारण को काल कहते हैं।

लक्षण :

(1) **'कलनात सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः'** (दर्शन)

(2) **'सूक्ष्माम् अपि कलां न लीयते इति कालः'** (सुश्रुत)

(3) **'संकलयति कालयति वा भूतानि इति कालः'** (सुश्रुत सूत्र)

(4) **'अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः स चैको विभुर्नित्यश्च'** (तर्कसंग्रह)

(5) **'कालो हि नाम भगवान्-स्वयंभूरनादिमध्यनिधनः'** (सुश्रुत)

(6) **'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः'** (कारिकावली)

अर्थात् : 1. सम्पूर्ण जीव सृष्टि का संकलन (उत्पादन) करता है इसीलिए इसे काल कहते हैं।

2. यह थोड़े समय के लिए भी रुकता नहीं है यह सदैव गतिशील है इसलिए इसे काल कहते हैं।

3. मनुष्यों का जीवन-मृत्यु चक्र इसी काल के वश में है।

4. अतीत आदि के व्यवहार का हेतु काल है। वह एक, विभु एवं नित्य है।

5. जिसे काल कहा जाता है वह भगवान् स्वयंभू है अर्थात् जिसका आदि, मध्य एवं अन्त नहीं है। सभी रसों की व्यापत्ति (विनाश) एवं सम्पत्ति (निर्माण) का कारण है। प्राणियों का जीवन मरण इसी के आधीन है।

6. जो उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों का निमित्त कारण है एवं समस्त विश्व का आधार है वह काल है।

काल शब्द की उत्पत्ति :

आचार्य डल्हण ने सुश्रुत के गद्य की टीका में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है :

1. संकलयति संहरणादेकराशिं करोति भूतानीति कालः।

2. कलयति मृत्युसमीपं नयतीति कालः।

3. कालयति संक्षिपतीति कालः।

4. संकलयति सुखदुःखाभ्यां भूतानि नियोजयतीति वा कालः।

अर्थात् जो संसार की समस्त वस्तुओं का संहार कर उन्हें एक राशि में कर दे, जो समस्त कार्य द्रव्यों को मृत्यु के समीप करता हो, जो आयु आदि सभी को संक्षिप्त करें अथवा जो समस्त प्राणियों को सुख-दुःख से मुक्त करता हो उसे काल कहते हैं।

काल शब्द की व्युत्पत्ति :

कलाशब्दस्य ककाराकारौ ली-धातोश्च लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्तिः।

अर्थात् कला शब्द का लकार एवं आकार तथा ली धातु के लकार को मिलाने करने से काल शब्द बनता है।

अर्थात्–क + आ + ल = काल

काल के गुण :

'संख्यादिपंचकं काले'

काल के सामान्य पांच गुण हैं संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग एवं विभाग।

काल के औपाधिक भेद– दार्शनिकों ने लक्षण करते हुए एक, नित्य और विभु बताया है किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से त्रिविध काल भूत, भविष्य एवं वर्तमान आदि का प्रयोग देखा जाता है। औपाधिक भेदों में त्रैकालिक भेद भूत, भविष्य, वर्तमान आदि। निमेष, काष्ठा, कला, घटी, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग आदि। व्यावहारिक भेद सभी प्रकार की क्रियाओं को सम्पन्न करने में, किसी वस्तु के उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान कराने में, वस्तु की प्रारम्भिक, मध्य और अन्तिम स्थिति का ज्ञान कराने में सहायक होते हैं। आयुर्वेद में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा और रोग निवृति हेतु प्रतिदिन की दैनिक क्रियाओं को काल के द्वारा विभाजित किया जाता है। ऋतु विभाग द्वारा दोषों के क्षय वृद्धि एवं कालज रोगों की उत्पत्ति का विवरण दिया है। अयन वर्णन से सूर्य की आदान और विसर्ग अवस्था द्वारा प्राणियों के जीवन पर होने वाले प्रभाव का वर्णन किया है और उन अवस्थाओं में धारण करने वाले नियमों का वर्णन किया है। इसी प्रकार औषध उत्पत्ति काल, उनमें रहने वलो गुण धर्म का काल तथा औषध सेवन आदि अनेक औपाधिक कालों का वर्णन किया है।

प्रश्न : आयुर्वेद में काल का महत्व एवं उपयोग बताइयें?

उत्तर : विश्व में प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति विकार एवं विनाश में काल को विशेष सहायक बताते हुए स्थान-स्थान पर काल का उल्लेख किया जाता है। दोष एवं धातुओं की उत्पत्ति, विकृति, शरीर की क्षमता अथवा विषमता, रोगोत्पत्ति के कारण, ऋतु आदि का काल के साथ विशेष सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। शरीर में दोषों की स्थिति सम करने हेतु शरीर को स्वस्थ रखने हेतु एवं रोग मुक्ति हेतु भी प्रयोग किये जाने वाले द्रव्यों की उत्पत्ति, ग्रहण तथा औषध आदि के ग्रहण का भी विशेष सम्बन्ध काल से ही है। कहने का आशय यह है कि काल के परिमाण पर ही अनेक प्रक्रियायें होती हैं। अतः काल के लिए संहिताओं के अनेक प्रकरणों में स्पष्ट उल्लेख आया है। यथा–

चरक : विमान स्थान में वर्णित दशविध परीक्ष्य विषयों में काल भी एक है। इसके लिए लिखा है कि–**'कालः पुनः परिणामः'।** जो ऋतु, मास, अयन एवं वर्ष आदि में स्वयं परिणामशील अर्थात् जो परिवर्तनशील है, उसे काल कहते हैं। रोग परीक्षा विषयों में काल का भी उल्लेख आया है।

कालः पुनः संवत्सर आतुरावस्था च।
तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षड्धा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्कार्यमभिसमीक्ष्य।

अर्थात् संवत्सर और रोगी की अवस्था को काल कहते हैं। इसमें संवत्सर के दो, तीन, छः बारह या इससे भी अधिक भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुरूप विभाग किया जाता है।

सुश्रुत : काल के विभाग का उल्लेख करते हुए सूत्र स्थान में लिखा है कि **'तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गति. .....प्रविभागं करोति,** (सु०सू०6/4)

अर्थात् भगवान् सूर्य अपनी गति द्वारा इस काल के कला, काष्ठा, मूहूर्त, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन आदि का विभाग करते हैं।

अष्टांग-हृदय : काल का महत्व प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि रोग और आरोग्य में काल का भी अर्थ और कर्म के साथ विशेष महत्व है। यथा–

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥

(क) दोषादि संचयादि काल– दोषों के संचय प्रकोप और शमन का संहिताओं में काल निर्धारित किया है। इन दोषों के समान और विपरीत गुण धर्म वाले वातावरण में ही सामान्य विशेष सिद्धांत द्वारा प्रक्रम चलता रहता है। इन तीनों दोषों के स्वभाव षड् ऋतुओं पर आधारित होने से क्रमशः एक ऋतु से उत्तरोत्तर तीनों क्रियायें चलती रहती हैं। यथा वात दोष का ग्रीष्म

ऋतु में अनुकूल वातावरण द्वारा अधिक संचय होता है। वर्षा ऋतु में प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित होता है तथा शरद ऋतु में शमन हो जाता है। इसी आधार पर प्रत्येक दोष का संचयादि काल निर्णय करते हुए काल दोषज रोगों की चिकित्सा की जाती है एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से संचयादि कालों में विशेष नियम के पालन का उपदेश किया गया है।

(ख) औषध सेवन काल- रोग, आयु, ऋतु, देश आदि के आधार पर रोगानुसार औषध का जो निर्णय किया गया है इनमें भी काल का ही विशेष महत्व देखा जाता है। साथ ही औषध सेवन के भी अनेक काल बताये गये हैं यथा प्रातः, मध्य दिन में, सांयकाल, रात्रि में, भोजन करते समय, भोजन के पाचन काल में और भुक्त होने पर भी औषध ग्रहण का जो निर्णय किया गया है वह भी काल पर ही आधारित है।

यथा चरक ने-विमान स्थान में लिखा है– **'आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालः।'**

(ग) वनौषध ग्रहण काल- रोग दूर करने एवं स्वास्थ्य रक्षा हेतु जिन वानस्पतिक द्रव्यों का उपयोग किया जाता है उनको अथवा उनके अंग विशेष को ग्रहण करने हेतु भी काल का ही उल्लेख किया है अर्थात् किस ऋतु या काल में किस औषध को उपयुक्त समझते हुये ग्रहण करना चाहिये। किस काल में पत्र, किस अवस्था में मूल, फल, पुष्प आदि ग्रहण किया जाता है इनमें काल का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

(घ) औषध के सवीर्य और निर्वीर्य काल- जिस ऋतु या काल में वनस्पतियां सवीर्य या निर्वीर्य होती हैं इसका भी काल निर्णय किया गया है। शाङ्र्गधर ने अपनी संहिता में निर्मित औषधियों के काल का भी निर्णय करते हुए किस औषध प्रकार को कितने समय तक काम में लाया जा सकता है आदि का स्पष्ट वर्णन किया है जैसे चूर्ण आदि एक चतुर्मास तक, वटी एक वर्ष तक, आसव, अरिष्ट एवं भस्में चिरकाल तक, घृत, तैल आदि 3 से 5 वर्ष तक निर्वीर्य नहीं होते।

प्रश्न : काल विभाग को विभिन्न दृष्टि से वर्णन करें?

उत्तर : पुराणोक्त विभाग- सुश्रुत के अनुसार काल विभाग का वर्णन पुराणों में भी प्राप्त होता है।

मत्स्य पुराण :

काष्ठा निमेषा दशपञ्च चैव, त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत् कलां तु।
त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन्मुहूर्तं तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते।।

15 निमेष = 1 काष्ठा
30 काष्ठा = 1 कला
30 कला = 1 मुहूर्त
30 मुहूर्त = 1 अहरोत्र (रात्रि-दिन)
1 निमेष = एक बार पलक झपकने का समय = 4/3 विपल
18 निमेष = 1 काष्ठा = 8 विपल
30 काष्ठा = 1 कला = 4 विपल
30 कला = 2 मुहूर्त = 2 घटी
30 मुहूर्त = 1 अहोरात्र = 60 घटी
15 अहरोत्र = 1 पक्ष
2 पक्ष = 1 मास
2 मास = 1 ऋतु (हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद्)
3 मास = 1 अयन (उत्तरायण व दक्षिणायन)
2 अयन = 1 वर्ष (इसे सम्वत्सर भी कहते हैं)
5 वर्ष = 1 युग (आयुर्वेद)

नोट- व्यवहार में 12 वर्ष का भी युग माना गया है।

उपरोक्त पुराणोक्त एवं सुश्रुत के काल विभाग में इतना अन्तर है कि सुश्रुत में मुहूर्त 20-1/10 कला माना है जबकि पुराणों में 30 कला का। इसके अतिरिक्त सभी गणना समान हैं।

आधुनिक काल विभाग- वर्तमान समय में काल का प्रचलन पाश्चात्य पद्धति पर ही किया गया है। जो सर्वमान्य है। इससे पूर्व भारतीय मान का आधुनिकरण अवश्य हुआ था। जिनका प्रचलन विदेशी आक्रमण एवं अंग्रेजों के राज्य में केवल मात्र ज्योतिष का विषय बनकर रह गया है। घटी आदि सूक्ष्म मान का ग्रामीण प्रचलन के अनेक युक्तियों से सिद्ध होता है जैसे-2 घड़ी आदि सूक्ष्म मान का ग्रामीण प्रचलन की अनेक युक्तियों से सिद्ध होता है जैसे-2 घड़ी दिन चढ आया। फिर भी ऋतु, मास, पक्ष, वर्ष आदि के रूप में अभी भी वही प्रचलित है।

सूक्ष्ममान (तुलनात्मक) :

भारतीय मान		पाश्चात्य मान
1 लीक्षक	=	1/15 सैकेण्ड
15 लीक्षक	=	1 सैकेण्ड
60 लीक्षक	=	1 प्राण या 10 विपल=4 सैकेण्ड
60 विपल	=	1 पल 24 सैकेण्ड
2-1/2 विपल	=	1 मिन्ट
60 पल	=	1 घटी = 24 मिनट
2-1/2 घटी	=	1 घण्टा
30 घटी का	=	4 याम या 4 प्रहर = 12 घण्टे (एक दिन या रात)
60 घटी	=	(अहोरात्र) = 24 घण्टा (रात-दिन)
30 अहोरात्र	=	1 मास
2-2 मास की	=	एक एक ऋतु
3 ऋतु का	=	1 अयन = (उत्तरायण या दक्षिणायन)
2 अयन का	=	365 दिन
या 12 मास का	=	1 वर्ष होता है।
5 वर्ष का	=	1 युग
5 युग की	=	चौथाई शताब्दी या 25 वर्ष
10 युग की	=	अर्धशताब्दी या 50 वर्ष
20 युग की	=	एक शताब्दी या 100 वर्ष

दिशा वर्णन

प्रश्न : संक्षिप्त दिशा वर्णन करते हुए इसका आयुर्वेद से उपयोग बताइयें?

उत्तर : बताये गये नौ कारण द्रव्यों में दिशा का भी अपना विशेष महत्त्व है। किसी वस्तु, स्थान या स्थिति का दिशा के बिना निर्देश करना कठिन होता है। अत: यदि दिशा का ज्ञान नहीं होगा तो कौन-सी वस्तु किस वस्तु एवं कौन-सा स्थान एक दूसरे से किस तरफ है इसका विवरण देना कठिन हो जाएगा। यदि बताया भी जाएगा तो एक लम्बी चौड़ी भूमिका तैयार करनी पड़ेगी कि इस प्रकार से उससे आगे, उसके बाद इस तरफ इतना चलने पर इसको पार करते हुए है आदि आदि। यदि दिशा का ज्ञान होगा तो हमें इतना कहकर चुप हो जाना पड़ेगा कि अमुक वस्तु से दक्षिण में अमुक के पश्चिम में है। जैसे काशी से कुरुक्षेत्र किधर एवं कितनी दूर है तब दिशा द्रव्य के बिना शेष आठ में से किसी भी द्रव्य द्वारा यह ज्ञान करना कठिन हो जायेगा। अत: बिना दिशा द्रव्य के व्यावहारिक रूप में भी दैनिक कार्यों में बाधायें उपस्थित हो जावेंगी। इनको ध्यान में रखते हुए दिशा द्रव्य का पृथक् द्रव्य के रूप में निरूपण किया गया।

प्रश्न : दिशा की परिभाषा, लक्षण एवं भेद स्पष्ट करें?

उत्तर : परिभाषा : जिस द्रव्य से पदार्थ एवं द्रव्यों में दूरी या समीपता का ज्ञान होता है उस द्रव्य को दिशा कहते हैं।

दिशा लक्षण :

(1) प्राच्यादिव्यवहारहेतुद्रिक्। सा चैका विभ्वी नित्या च। (तर्क संग्रह)

(2) दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदात् एकापि प्राच्यादिव्यपवेशभाक्। (कारिकावली)

(3) दैशिकपरत्वापरत्वाभ्यां दिशः सिद्धिः।

(4) कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। (तर्क भाषा)

क्रमशः – (1) प्राची (पूर्व) आदि दिशाओं का व्यावहारिक ज्ञान जिस द्रव्य के द्वारा होता है उसे दिशा कहते है कि वह एक, विभु एवं नित्य है।

(2) जो दूर और समीप, इस प्रकार के ज्ञान का कारण हो उसे दिशा कहते हैं। यह एक और नित्य है। एक होते हुए भी उपाधि भेद से प्राची आदि नामों से व्यवहृत है।

(3) दैशिक परत्वापरत्व की जिस द्रव्य द्वारा सिद्धि होती है उसे दिशा कहते हैं।

(4) काल के विपरीत अर्थात् काल द्वारा सिद्ध न होने वाले परत्वापरत्व का अनुमान जिस द्रव्य द्वारा होता है उसे दिशा कहते हैं।

दिशा के गुण :

'संख्यादिपंचकं दिशि'

अर्थात् काल के समान दिशा में भी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि पांच सामान्य गुण पाये जाते हैं।

दिशा के भेद– काल आदि अन्य कारण द्रव्यों के समान दिशा भी नित्य, एक तथा व्यापक द्रव्य है फिर भी प्राची आदि औपाधिक भेद से दिशा की चार, छः एवं दश संख्यायें बताई गई हैं। सामान्यतया पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण इन चारों दिशाओं का सभी को व्यावहारिक परिचय है। इनमें ऊर्ध्व एवं अधः दो और दिशाओं का योग करने से संख्या छः हो जाती है। इन प्रमुख चारों दिशाओं के मध्य संयोजक कोणों को भी चार उपदिशाओं के रूप मे प्रकट किया जाता है। इनमें पूर्व एवं उत्तर के मध्य को **'ईशान'** दक्षिण एवं पूर्व के मध्य को **'आग्नेय'** दक्षिण एवं पश्चिम के मध्य को **'नैर्ऋत्य'** तथा उत्तर व पश्चिम के मध्य भाग को **'वायव्य'** दिशा के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार सभी को मिलाकर उपाधि भेद से दश दिशायें बताई गई हैं।

पूर्व दिशा : भगवान् सूर्य के सर्वप्रथम जिस दिशा में प्रातःकाल दर्शन होते हैं उस दिशा को प्राची कहा जाता है। इसकी सिद्धि के लिए विभिन्न लक्षण बताये गए हैं :

(1) यस्य पुरुषस्य उदयगिरिसन्निहिता या सा, तस्य प्राची। (मुक्तावली)

(2) प्रागस्यामञ्चति सूर्यः इति प्राची।

(3) तत्रोदयाचलसन्निहितमूर्तावच्छिन्ना दिक् प्राची। (वाचस्पत्यम्)

जिस दिशा को सूर्य सर्वप्रथम स्पर्श करता है वही प्राची है।

इसी प्रकार जिस दिशा में भगवान् भास्कर का सर्वप्रथम उदया चल के समीप दर्शन होता है उसी दिशा को प्राची कहा जाता है।

पश्चिम दिशा : जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है उसे प्रतीची या पश्चिम दिशा कहा जाता है। इसके लक्षण वाचस्पत्यम् में इस प्रकार किए हैं।

(1) प्रतिकूलेनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची।

(2) प्रत्येकं अञ्चतीति प्रतीची।

पूर्व के विपरीत दिशा में जहां सूर्य अस्ताचल को जाता हैं उस दिशा को पश्चिम कहा जाता है या जिस दिशा में सूर्य के अन्तिम दर्शन होते हैं उसे प्रतीची या पश्चिम कहते हैं।

उत्तर दिशा : उदीचि-उत्तर दिशा का नाम ही उदीची है।

(1) उद्‌गस्यां अञ्चति सूर्य इति उदीची।

(2) मेरुसन्निहितमूर्तावछिन्ना दिगुदीची।

अर्थात् जिस दिशा में भगवान् भास्कर ऊंचे उठकर गमन करते हैं अथवा जिस दिशा को भगवान् भास्कर ऊपर उठकर स्पर्श करते हैं उसे उदीची कहते हैं। प्रात:काल सूर्य की तरफ मुख करके खड़े होने पर बाएं हाथ की ओर होने वाली दिशा को उत्तर कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टिकोण से सुमेरु पर्वत के समीप वाली दिशा को उदीची कहते हैं।

दक्षिण दिशा (अर्वाची)- सूर्याभिमुख स्थित होने पर दाहिने हाथ की तरफ रहने वाली दिशा ही दक्षिण है।

(1) अर्वागस्यामञ्चिति सूर्य इति अर्वाची।

(2) अर्वागचतीति अर्वाची।

(3) तद्व्यवहृतमूर्तावच्छिन्ना तु दिग् दक्षिणा।

जिस दिशा में सूर्यसंयोग नीचे होकर होता है, उसे दक्षिण दिशा कहते हैं। उत्तर दिशा के विपरीत भाग में स्थित दिशा को दक्षिण कहते हैं। प्रात: सूर्याभिमुख स्थित होने पर दाहिने हाथ की तरफ वाली दक्षिण दिशा होती है।

काल एवं दिशा में भेद- दोनों में कुछ सामान्य गुण होने के कारण कभी-कभी हमें कुछ भ्रम हो जाता है। इसी कारण दोनों में भेद करना भी कठिन हो जाता है। दोनों की सिद्धि परत्वापरत्व पर की जाती है-फिर भी परत्वापरत्व की दोनों के साथ अर्थ भिन्नता है।

(1) काल कालिक परत्व का कारण है जबकि दिशा दैशिक परत्व का कारण है जैसे-वह मेरे पीछे आया काल का वाचक है तथा वह मेरे पीछे खड़ा है इसमें दिशा का बोध होता है।

(2) काल की उपाधियां तो कोई जन्य पदार्थ है या क्रिया किन्तु दिशा की उपाधि मूर्त पदार्थों से दी जाती है।

(3) दिशा का विभाजन दृश्य पर एवं काल का विभाजन क्रिया पर आधारित है।

(4) किसी दिशा में जाना या न जाना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है किन्तु काल की दिशा निश्चित हैं हम भूत से वर्तमान में आते हैं एवं भविष्य में जाते हैं यह क्रम विपरीत नहीं होता। निरन्तर चला आ रहा है एवं चलेगा।

दिशा और आकाश में अन्तर : आकाश के समान दिशा भी शून्याकार होने से दोनों में समानता प्रतीत होने लगती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर निम्न अन्तर प्रतीत होते हैं।

(1) आकाश भूत द्रव्य है किन्तु दिशा नहीं।

(2) आकाश का विशेष गुण शब्द है किन्तु दिशा विशेष गुण से रहित है।

(3) काल के समान दिशा सभी कार्यों का साधारण कारण है किन्तु पृथ्वी आदि की तरह आकाश एक विशेष गुण का असाधारण कारण है जो शब्द है।

(4) आकाश का सम्बन्ध भूतों से है किन्तु दिशा का मन से है।

(5) आकाश की स्पष्ट सत्ता है किन्तु दिशा प्रमाणों के अनुभव पर आधारित है।

प्रश्न : आयुर्वेद में दिशा का उपयोग बताइयें?

उत्तर : आयुर्वेद में इसकी आवश्यकता एवं महत्व बताते हुए लिखा है :

(1) दिशा विशेष से चलने वाली वायु का दोष धातु एवं मलों पर प्रभाव प्रदर्शित करने हेतु दिशा की आवश्यकता समझी गई है। जैसे पूर्व की वायु रक्त पित्त का प्रकोप करती है एवं पश्चिम की वायु वात एवं कफ का। सम होने वाली हवा आरोग्य उत्पन्न करती है।

(2) भैषज्य प्राप्ति हेतु भी देश एवं दिशा का निर्देश करना आवश्यक है। कौन सी औषध किस स्थान पर अच्छी मिल सकती है। जैसा कि आयुर्वेद में हिम प्रदेश की वनस्पतियां शीत गुण के लिए उत्तम तथा विन्ध्याचल की औषधियां उष्णवीर्य प्रधानता के लिए प्रसिद्ध है।

(3) रसशास्त्र में रसशाला निर्माण हेतु दिशा का विवरण प्रस्तुत करते हुए प्रत्येक वस्तु का स्थान कौन-सा हो इसका निर्देश दिशा द्वारा ही किया गया है।

(4) कुटि आदि के द्वार (मुख), सूतिकागार, कुमारागार, चिकित्सालय, निवास-स्थान, घर में पशु आदि के स्थान, पाकशाला का स्थान आदि बताने, इनकी मुख स्थिति किस तरफ होनी चाहिए आदि का भी दिशा से ही निर्देश किया गया है।

(5) अरिष्ट लक्षणों में भी दिशा का उल्लेख करते हुए रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान किया जाता है।

आत्मा निरूपण

प्रश्न : आत्मा के लक्षण एवं गुणों का वर्णन करें तथा आयुर्वेद विचार स्पष्ट करें?

उत्तर : चौबीस या पच्चीस तत्वों से बने शरीर की चेतना, आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होती है। अत: शरीर का आत्मा द्वारा ही संचालन होता है। आत्मा से मिलकर यह शरीर 25 तत्वों वाला कहलाता है। आयुर्वेद एवं दर्शन शास्त्रों के अनुसार आत्मा एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है तथा अपने पूर्व कर्मो का फल भोगती है। अनेक विचारकों ने आत्मा को पृथक् न मानकर किसी ने शरीर को किसी ने मन को, किसी ने इन्द्रियों को आत्मा बताया है तथापि सिद्धांतों द्वारा इस बात का खण्डन करते हुए आत्मा को अलग तत्व सिद्ध किया है अत: नव कारण द्रव्यों में चेतन गुण के कारण महाभूत के बाद आत्मा का प्रमुख स्थान है। सम्पूर्ण चेतन सृष्टि का इसे ही आधार माना गया है एवं व्यावहारिक, दार्शनिक एवं आयुर्वेद दृष्टिकोण से ज्ञान का प्रमुख विषय आत्मा है।

प्रश्न : आत्मा की परिभाषा, लक्षण एवं भेद स्पष्ट करें?

उत्तर : समवाय सम्बन्ध से जो द्रव्य ज्ञान का आश्रय हो उसे आत्मा कहा जाता है।

आत्मा शब्द की निरुक्ति :

'अत सातत्यगमने' धातु से ''सतिभ्यां मनिन् मनिणौ'' इति मनिण्।

अर्थात् जो निरन्तर गतिशील हो उसे आत्मा कहते हैं। गतिशीलता सदैव चेतन में रहती है एवं चेतना आत्मा का गुण है।

व्युत्पत्ति : उपनिषद् के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने श्लोक द्वारा आत्मन् शब्द की विशिष्ट व्याख्या की है-

यदाप्नोति यदादत्ते चच्चात्ति विषयानिह॥
यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

यहां पर चार लक्षणों द्वारा व्युत्पत्ति की गई है। आप्नोति, आदत्ते, अत्ति एवं सन्ततो भाव।

आप्नोति : आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है।

आदत्ते : सभी पदार्थों को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है।

अत्ति : स्थिति काल में विषयों का उपभोग करता है।

सन्ततोभाव : इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है।

आत्मा का लक्षण :

(1) ज्ञानधिकरणमात्मा। (तर्क सं०)
ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं।

(2) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगम्। (न्यायसूत्र)
इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख, ज्ञानोपलब्धि आत्मा के लक्षण है।

(3) आत्मतत्वं नामामूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजाति:। (वैशेषिक दर्शन)
आत्मत्व ऐसी जाति है जो मूर्त द्रव्यों पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में समवेत न हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती है।

(4) आत्मेन्द्रियाद्यमधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्। (कारिकावली)
इन्द्रिय आदि करणों (साधनों) का अधिष्ठान आत्मा है, क्योंकि जो करण (साधनरूप) होते हैं उनका कर्त्ता कोई न कोई अवश्य होता है।

(5) समवायेन ज्ञानाधिरणमात्मनो लक्षणम्।

समवाय सम्बन्ध से ज्ञान के अधिकरण (आश्रय) को आत्मा कहते हैं।

प्रश्न : चरकानुसार आत्मा के लक्षण लिखिये?

उत्तर : निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ (च.सू.1)

सूक्ष्म आत्मा विकार रहित है। मन, भूतगुण (महाभूत एवं उनके विशेष तथा सात्विकादिगुण) तथा इन्द्रियों से संयुक्त होने पर चेतना का कारण, नित्य एवं द्रष्टा (सभी क्रियाओं को देखने वाला) है।

प्रश्न : आत्मा का परिमाण क्या है स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : परिमाण भी आत्मा का एक गुण है। अन्य द्रव्यों की तरह इसके परिमाण के विषय में भी ज्ञान आवश्यक है क्योंकि कोई भी द्रव्य बिना परिमाण के नहीं होता। आत्मा के परिमाण के विषय में विभिन्न मत हैं-रामानुज आदि कुछ वेदान्त दर्शनों में आत्मा (जीवात्मा) का अणु परिमाण बताया है। जैन दर्शन में मध्यम परिमाण या शरीर परिमाण माना गया है। न्याय वैशेषिक दर्शन में परम महत् परिमाण माना गया है।

(क) न्याय दर्शन : इसके अनुसार आत्मा विभु एवं व्यापक हैं। व्यापक होने से सम्पूर्ण द्रव्यों में संयुक्त रहता है।

(ख) जैन दर्शन : जैन दर्शन में आत्मा मध्यम परिमाण माना गया है। इसका अर्थ है ऐसा परिमाण जो आवश्यकतानुसार घट बढ़ सके। इसके अनुसार जब आत्मा प्राणी के छोटे या बड़े शरीर में प्रवेश करती है तब उस शरीर के अनुरूप बन जाती है अर्थात् छोटे शरीर में छोटा एवं बड़े शरीर में बड़ा हो जाता है इसीलिए चींटी के शरीर, मनुष्य के शरीर, हाथी के शरीर एवं वृक्षादि में आत्मा उन्हीं के अनुरूप हो जाती है।

(ग) वेदान्त दर्शन : वेदान्त दर्शन में आत्मा के परिमाण के विषय में अनेक मत हैं। अद्वैत वैदान्त में आत्मा ब्रह्मरूप है। अतः ब्रह्म परिमाणरहित होने से आत्मा भी परिमाण रहित है।

सारांश : सभी मतों को दृष्टिगत करने से ज्ञात होता है कि यदि अणु परिमाण माना जाएगा तो उसके गुण, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्माधर्म का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अणु परिमाण वाला आत्मा शरीर के एक देश में स्थित होगा तो उसके लिए संवेदना आदि सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाने की कल्पना करनी पड़ेगी।

दूसरा मत मध्यम परिमाण का है जिसे शरीर परिमाण भी कहा जाता है। यदि इस मत को स्वीकार किया जावेगा तो चींटी के शरीर की लघु आत्मा अगले जन्म में हाथी का या मनुष्य का शरीर कैसे धारण कर सकेगी एवं दोनों में परिमाण भिन्नता होने से उसके अवयव भी भिन्न-भिन्न होंगे अर्थात् हाथी के शरीर में विकसित अवयव वाली आत्मा एवं चींटी के शरीर में संक्षिप्त अवयव वाली होगी। आत्मा सावयव होने से अनित्य हो जावेगी जबकि आत्मा अवयवरहित एवं नित्य है जैसा शरीर मिलेगा उसी के अनुरूप हो जायेगी अतः तीसरा मत स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा विभु (व्यापक) है।

आत्मा का विभु स्वरूप : जो व्यापक, परम महत् परिमाण वाला तथा समस्त मूर्त द्रव्यों से संयोग रखने वाला हो वह विभु कहलाता है। यही सबसे बड़ा परिमाण है इससे बड़ा कोई नहीं है। जिस प्रकार आकाश व्यापक है उसी प्रकार आत्मा की सर्वत्र सिद्धि होती है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने भी यही मत स्वीकार करते हुए आत्मा को महत् परिमाण वाला बताया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि :

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। 13/20

अर्थात् आत्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा चेतन तत्व जो जीव की हृदय रूप गुफा में छिपा हुआ है। आचार्य चरक ने लिखा है :

''विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्''

यह आत्मा सर्वगत महान् एवं व्यापक है अति विभु परिमाण वाला है। अर्थात् संसार के छोटे एवं बड़े से बड़े सभी पदार्थों में आत्मा की सत्ता रहती है। सुश्रुत ने आत्मा को परम सूक्ष्म माना है। अर्थात कोई द्रव्य है चाहे वह छोटा हो या बड़ा उसमें रहकर आत्मा उसे चेतन करती है।

प्रश्न : आत्मा का स्थान, गुण एवं भेदों का वर्णन कीजिए?

उत्तर : आत्मा के स्थान के विषय में भी विद्वानों में भिन्न भिन्न मत है इसमें आचार्य सुश्रुत, उपनिषद्, गीता एवं अरस्तु आदि विद्वानों ने आत्मा का स्थान हृदय बताया है।

'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्' साथ ही सगुण आत्मा, मन, चेतना, आत्मा में सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि सभी गुण, शरीर के षडंग आदि का स्थान भी हृदय बताया गया है अत: चेतना का स्थान व्यापक है।

चरक ने भी आत्मा का स्थान हृदय बताते हुए लिखा है :

आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् (च.सू.30/4)

सगुण आत्मा चित्त एवं मन के विषय सब हृदय में निवास करते हैं। गीता के अध्याय 15 में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि–

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मतः स्मृतिज्ञानमपोहनं च।

अर्थात् समस्त प्राणियों में आत्मा स्वरूप मैं उनके हृदय में तथा बुद्धि में निवास करता हूं। 18वें अध्याय में आगे लिखा है कि– हे अर्जुन सभी प्राणियों के शरीर में सब का शासन करने वाला नारायण स्थित है।

इस भाव को श्वेताश्वेतरापनिषत् में भी व्यक्त किया है-

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥ 15॥

अर्थात्–जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी तथा ऊपर से सुखी हुई नदी के स्रोतों में जल एवं अरणी में अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार प्राणियों के हृदय रूप गुफा में आत्मा छिपी रहती है।

''चेतनाशब्देनात्मा गृह्यते चेतनासमवायिकारणत्वात्, तस्य स्थानम् चेतना स्थानम्''

विदेशी विद्वान डेकोर्टे ने हृदय के स्थान पर मस्तिष्क में होने वाली Pineal Gland को ज्ञान या आत्मा का स्थान बताया है। आज के वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार प्रत्येक कोशा में **न्यूक्लियस** होता है जो उसकी क्रिया एवं चेतना में कारण है। आयुर्वेद में आत्मा को विभु मानने में प्रत्येक कोशा में उसकी स्थिति सिद्ध हो जाती है चरक ने स्रोतों के समुदाय को ही पुरुष कहा है। कोशाएं शरीर के असंख्य स्रोत ही हैं।

आत्मा के गुण : पृथ्वी एवं जल की तरह आत्मा में भी 14 गुण बताए गए हैं। बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग एवं भावना आदि।

यह आत्मा बुद्धि या ज्ञान का आत्मा अधिकरण है। सुख दु:ख आत्मा के मानस प्रत्यक्ष से स्पष्ट है, इच्छा एवं द्वेष करने से इसमें इच्छा व द्वेष भी है, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप प्रयत्न आत्मा में होने से व्यक्ति हित साधन में प्रवृत्त होता है व अहित का परिहार करता है। पुण्य एंव पाप कर्म से उत्पन्न हुए धर्म और अधर्म दोनों ही आत्मा में रहते हैं। धर्माधर्म से ही पुण्य और पाप के फल को भोगता है। स्मृति का हेतु भावना नामक संस्कार भी आत्मा में रहता है इसी के आधार पर आत्मा पूर्वानुभूत पदार्थों का स्मरण रखता है। इनके अतिरिक्त संख्या एकत्वादि तथा परिमाण महत् आदि तथा पृथक्त्व, संयोग विभाग भी आत्मा में प्रसिद्ध गुण होते ही हैं।

आचार्य चरक ने आत्मा के 22 लक्षण तथा सुश्रुत ने 16 लक्षण माने हैं। आत्मा को सगुण और निर्गुण होने पर भी युक्तियों से सगुण माना गया है। महान् आत्मा या परमात्मा को त्रिगुणातीत कहा है।

प्रश्न : आत्मा की एकता एवं अनेकता को समझाइये?

उत्तर : **''एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।**
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥''

(1) उपनिषद् आत्मा को एक तथा विभु (व्यापक) मानते हैं। उनके अनुसार जैसे चन्द्रमा एक ही है परन्तु जितने तालाबों में दिखाई देगा उतनी ही संख्या में चन्द्रमा हो जायेंगे। यद्यपि चन्द्र प्रतिछाया रूप अनेक दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में एक ही है।

आत्मा के भेद : नौ कारण द्रव्यों में आकाश, काल एवं दिशा इन तीनों के समान आत्मा भी विभु होने के कारण इसके भेद नहीं किए जा सकते। जिस प्रकार उपाधि भेद से आकाश, काल और दिशा को विभक्त किया गया है उसी प्रकार कल्पना के आधार पर आत्मा को भी जीवात्मा, भूतात्मा रूप में विभक्त किया गया है।

महर्षि कणाद : महर्षि ने आत्मा के भेद करते हुए जीवेश्वरभेदाच्चापि नाना अर्थात् जीव और ईश्वर रूप आत्मा दो भेद हैं जिन्हें जीवात्मा और परमात्मा कहा जाता है।

न्याय शास्त्र : न्याय शास्त्र आत्मा को प्रत्येक शरीर में भिन्न मानते हैं तथा इनके अतिरिक्त आत्मा के दो और भेद मानते हैं एक जीव तथा दूसरा ईश्वर। इन दोनों में एकरूपता भी नहीं हो सकती। दोनों भिन्न-भिन्न है। इसके धर्म भेद को स्पष्ट करते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि-

द्वा सुपुर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ (अ० 4/6)

एक ही वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों में से एक फल को खा रहा है तथा दूसरा उसे फल खाते देखता है उसी प्रकार शरीर रूप इस वृक्ष पर आश्रित एक जीव और दूसरा ईश्वर रूप पक्षियों में से देहाभिमानी जीव इसके सुख दुःख आदि फल को खाता (भोगता) तथा दूसरा ईश्वर रूपी पक्षी साक्षी के रूप में केवल देखता है अतः उसे द्रष्टा कहा गया है। यही धर्मभिन्नता और शास्त्र-प्रमाण दोनों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करते हैं।

आयुर्वेद सम्मत आत्मा के भेद : आचार्य चरक आत्मा को अनादि, सर्वज्ञ, कर्त्ता, पुरुष, ईश्वर आदि नाम से स्वीकार करते हुए और मोक्ष की प्रवृत्ति हेतु इसी के ज्ञान की आवश्यकता बताते हुए भी जड़ जगत् के साथ चैतन्य का भाव रहने से इसको अनेक नामों से सम्बोधित किया है। पूर्व कर्म का फल भोगने एवं दैनिक क्रियाओं में शरीर के अनेक कार्य करने से इसे कर्मात्मा, भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) एवं अन्य समुदाय के साथ गर्भ में प्रवेश करता है अतः भूतात्मा कहा है तथा सचेतन का नाम जीवधारी होने से जीवात्मा भी इसी का नाम है। इन सबसे भिन्न जगत् की उत्पत्ति आदि में कर्त्ता, सर्वशक्तिमान् परमात्मा कहा गया।

जीवात्मा : जीव रूप आत्मा के प्रतिष्ठान को जीवात्मा कहते हैं। गर्भ में इसका प्रवेश होता है एवं प्रति शरीर में यह भिन्न है। कर्म फल भोगने हेतु विभु आत्मा का शरीर उत्पन्न करने वाले भावों के साथ सूक्ष्म रूप में प्रवेश करने हेतु ही जीवात्मा नाम दे दिया गया है।

भूतात्मा : जो सभी प्राणियों में स्थित है एवं पंचमहाभौतिक समुदाय में चेतनता उत्पन्न करने वाला है उसे भूतात्मा कहते हैं। शरीर पंचमहाभूतों से बना है और आत्मा के इस पंचमहाभूतात्मक जड़ शरीर के साथ सहयोग करने पर ही चेतना उत्पन्न होती है।

प्रश्न : आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति (ज्ञानोत्पत्ति प्रक्रिया) से क्या समझते हैं

उत्तर : समस्त दार्शनिक पक्ष की दृष्टि से यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा निष्क्रिय है। जड़ जगत् के कार्य सम्पादन में सक्रिय रूप प्रकट होती है फिर भी आयुर्वेद दर्शन के सिद्धांतानुसार आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने वाला बताया गया है। दर्शन शास्त्रों में आत्मा के लक्षण में **ज्ञानाधिकरणम् आत्मा** का उल्लेख किया है अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय हो उसे आत्मा कहते हैं। चरक में आत्मा के ज्ञानवान् होने में करणों का विशेष सहयोग बताया है।

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्याद् अयोगाद् वा न वर्तते। च०शा० 1/53

आत्मा ज्ञानवान् है, सब कुछ जानती है अतः आत्मा को ज्ञानी कहा गया है। यह ज्ञान आत्मा में अपने सहायक साधनों, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि के संयोग से प्राप्त होता है। अकेली आत्मा कर्म, वेदना आदि ज्ञान प्राप्त नहीं करती। भूतात्मा अकेले फल को भी नहीं भोगती। जब इन्द्रियों में विकार आ जाए, मन एवं बुद्धि में मलिनता आ जावे तो उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त नहीं होता जैसे गन्दे शीशे या जल में मुख साफ दिखाई नहीं देता। इन्द्रियां स्वस्थ भी हों किन्तु सभी का संयोग न हो तब भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए इन्द्रियों के साथ आत्मा का संयोग व्यवधान रहित होना भी आवश्यक है। एक युक्ति में इन्द्रिय रहित भी आत्मा का ज्ञानवान होना बताया है। जब प्राणी सोता है तब इन्द्रिय, वाणी और शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं से निवृत्त होता है तब स्वप्न में विषयों को और सुख दुःख को जानता है अतः आत्मा अज्ञानी नहीं है।

आत्मा की नित्यता- सभी दर्शनों में आत्मा को नित्य बताया गया है। यह शरीर की उत्पत्ति से पूर्व एवं शरीर विनाश होने के बाद भी रहती है। इसकी युक्ति देते हुए कणाद के भाष्यकारों ने स्पष्ट किया है-बच्चा उत्पन्न होते ही माता का स्तनपान करने लग जाता है। यह क्रिया तो बिना सिखाए आ नहीं सकती अतः इसे पूर्व जन्म का अभ्यास ही माना जाना चाहिए। पूर्व संस्कार ही उसकी इस बुद्धि को जगाने वाला है। तब यह सिद्ध होता है कि आत्मा अनादि है। जो भी अनादि भाव होता है उसका नाश नहीं होता। इसलिए यह अनन्त है। जब यह अनादि एवं अनन्त है तो स्वाभाविक रूप में नित्य भी सिद्ध हो जाता है।

आयुर्वेद में भी इस विषय पर पूर्ण विचार किया गया है। आत्मा की नित्यता सिद्धि में दिए गये उक्त प्रमाण आयुर्वेद में पुनर्जन्म विषय को लेकर स्पष्ट किए गए हैं आत्मा की नित्यता सिद्ध करते हुए चरक लिखते हैं कि-

अनादिः पुरुषो नित्योविपरीतस्तु हेतुजः।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुज मन्यथा॥ (च०शा० 1/59)

परमात्मा या अनादि पुरुष नित्य माना जाता है। दूसरा, मोह, इच्छा, द्वेष, धर्माधर्म आदि से उत्पन्न होने वाला राशि पुरुष अनित्य माना जाता है। आगे नित्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए बताया है कि जो सत्ता वाला हो परन्तु कारण वाला न हो अर्थात् जिसको उत्पन्न करने में कोई कारण न हो वही नित्य है।

प्रश्न : आत्मा की सिद्धि कैसे होती है पहचान के लक्षण लिखें?

उत्तर : चरक द्वारा दार्शनिक मतों की सिद्धि करते हुए प्रमाण एवं विशेष लक्षण द्वारा आत्मा की सिद्धि की युक्तियां दी गई हैं।

(1) अनुमान द्वारा- बिना आत्मा के इन्द्रियां और मन किसके लिए और कैसे कार्य करेंगे? बिना आत्मा के जन्म मरण भी नहीं होंगे, न बन्धन होगा और न मोक्ष होगा। अतः अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा अनुमान प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि जहां "मैं" और "मेरे" आत्मीय भाव होंगे, वहां-वहां आत्मा भी होगी और जहां-जहां आत्मा का भाव होगा वहां-वहां ज्ञान का भी भाव होगा। अतः आत्मा की सिद्धि ज्ञान से की गई है।

(2) युक्ति प्रमाण द्वारा- आत्मा की सिद्धि में दूसरे प्रमाण युक्ति को भी चरक ने अपनाया है। इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन आदि अचेतन कारणों के होते हुए भी जब तक चेतना का संयोग नहीं होगा तब तक शरीर निर्माण नहीं होगा जैसे किसी स्थान पर घड़े बनाने के साधनरूप मिट्टी, चक्र, दण्डा, धागा आदि सामग्री पड़ी हुई हो तब भी घड़ा नहीं बन सकता जब तक कि उसको बनाने वाला न हो। इसी प्रकार मिट्टी, चूना, पत्थर आदि के रहते हुए भी मकान स्वयं तैयार नहीं हो जाता, किसी कारीगर की अवश्य आवश्यकता होती है। यदि किसी ने बिना कर्त्ता के घड़ा और बिना शिल्पी के मकान बनता हुआ देखा हो तो आत्मा के बिना केवल मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा शरीर भी बन सकता है किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः युक्ति द्वारा आत्मा को मानना ही होगा।

(3) लक्षणों द्वारा आत्मा की सिद्धि- प्रकृति को जड़ बताया है इसमें न तो चेतना होती है और न ही ज्ञान होता है जबकि चेतन प्राणियों में हमें दोनों ही लक्षण दिखाई देते हैं। ये दोनों लक्षण आत्मा के हैं। इसी प्रकार अन्य भी कुछ लक्षण है जिनकें द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है।

प्रश्न : आत्मा में व्याधि आश्रयत्व है सिद्ध करें?

उत्तर : यद्यपि लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा निर्विकार होने से इसमें किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न नहीं हो सकती। फिर यह व्याधि का आश्रय कैसे हो सकती है? यह तो शारीरिक भावों के साथ चैतन्य का कारण मात्र है। आत्मा को निष्क्रिय भी बताया गया है। आचार्य चरक लिखते हैं-

शरीरसत्वसंज्ञञ्च व्याधीनामाश्रयो मतः (च.सू. 1/55)

शरीर एवं मन दोनों नित्य परिणामी (परिवर्तनशील) होने से सभी प्रकार की क्रियाओं एवं वेदनाओं के अधिष्ठान हैं। इसी प्रकार इसको सम्पूर्ण व्याधियों एवं सुखों का भी आश्रय बताया गया है। इतना होने पर भी शरीर एवं मन आत्मा से पृथक् रहकर व्याधि सुख-दुःख एवं वेदनाओं के आश्रय नहीं बन सकते हैं। अतः आत्मा के सहयोग की आवश्यकता होने से आत्मा में विकाराभाव का आभास होता है।

प्रश्न : आयुर्वेद में आत्मा की उपयोगिता सिद्ध कीजिए?

उत्तर : समस्त विश्व के पदार्थ दो भागों में विभक्त किए गए हैं-जड़ और चेतन। दोनों प्रकार के पदार्थों में गति या क्रिया चेतन तत्व के कारण आती है। अत: इस चेतन का शरीर के साथ एवं संसार के साथ क्या सम्बन्ध है यह जानने से इसकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

1. शरीर को 25 तत्वों का समुदाय बताया गया है। इसमें 24 तत्व जड़ या अचेतन कहलाते हैं तथा 25वां तत्व पुरुष या आत्मा को चेतन बताया गया है। इस चेतन के सहयोग से ही शरीर निर्माण होकर प्रत्येक क्रिया में प्रयुक्त होता है अत: सर्वप्रथम शरीर निर्माण में इसकी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

2. आयुर्वेद के दोनों प्रयोजन ''**स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का रक्षण और रोगी के रोग की उपशान्ति**'' दोनों के द्वारा शरीर चेतन तत्व को चिरकाल तक स्थिर रखता ही है। जितने समय तक यह चेतन सत्व या आत्मा शरीर के साथ रहता है उस काल या समय का नाम ही आयु है। आयुर्वेद में चारों प्रकार की आयु का ही तो वर्णन किया गया है। अत: दीर्घ, हिताहित, सुख, दु:खादि रूप आयु के ज्ञान हेतु आत्मज्ञान की प्रथम उपयोगिता समझी जाती है।

3. कार्य बिना कर्त्ता के नहीं होता अत: इस जगत् रूपी कार्य का कर्त्ता अवश्य है। सृष्टि के आदि में परमाणुओं की रचना, उनका संयोग, वस्तुओं का निर्माण कर्त्ता की देन है। उस कर्त्ता को परम ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर के नाम से जाना जाता है अत: चेतन और अचेतन सम्पूर्ण सृष्टि का आधार परमात्मा के होने से इसके गुण, कर्म प्रवृत्ति आदि के ज्ञान की भी उपयोगिता समझी गई है।

4. दार्शनिक विचारधारा में शरीर भोगायतन और आत्मा को आश्रयी बताया है। अत: विचार किया जाता है कि प्राणियों का जन्म क्यों होता है, क्यों आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना पड़ता है इस ज्ञान हेतु भी आत्मा की उपयोगिता समझी गई है।

5. संसार में प्रत्येक चेतनाधारी का जन्म भिन्न-भिन्न वर्ग व समुदाय में होता है। कोई सुखी है और कोई दु:खी है आदि भिन्नता को जानते हुए भी आत्मा के ज्ञान की उपयोगिता है।

प्रश्न : पुरुष के विषय में आयुर्वेदीय दृष्टिकोण बताइयें?

उत्तर : आयुर्वेद में धातु भेद से अथवा स्थान, उपयोग, प्रकृति, आकृति, स्थिति व संगठन के आधार पर अनेकों स्वरूपों में एक धातुज, षड् धातुज, एकादश धातुज, चतुर्विंशति धातुज एवं पंचविंशति धातुज के साथ राशिपुरुष, कर्मपुरुष और चिकित्साधिकृत पुरुष के नाम से वर्णन किया गया है।

प्रश्न : पुरुष की निरुक्ति, व्युत्पत्ति एवं स्वरूप बताइये?

उत्तर : पुरुष शब्द की निरुक्ति-'पुरि शरीरे शेते इति पुरुष:' (चक्रपाणि)

इस पुरुष शब्द का निर्माण 'पुर' अग्रगमने धातु से होता है, जिसका अर्थ गमन रूप क्रिया से लिया जाता है अर्थात् जिसका गमन देह देहान्तर एवं लोक लोकान्तर में होता है, उसे पुरुष कहा जाता है।

व्युत्पत्ति : पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति में सामान्यतया 'पुर' शब्द एवं शयनार्थक 'शी' धातु बताई गई।

पुरुष लक्षण :

1. चेतनाधातुरप्येक: स्मृत: पुरुषसंज्ञक:। (च०शा० 1/16)

2. पुरुष: पञ्चविंशतितम:, कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। (सु०शा० 1/8)

अत: उपरोक्तधातु भेद से पुरुष के संगठन से कर्म पुरुष एवं मोक्ष के कारणभूत शरीर रहित आत्मा को ही पुरुष रूप में बताया गया है।

पुरुष का स्वरूप : सामान्यत: पुरुष के दो भेद किये जा सकते हैं-

1. शुद्ध पुरुष और 2. ओपाधिक पुरुष। केवल चेतना धातु रूप ही शुद्ध पुरुष कहा जाता है। आयुर्वेदीय राशिपुरुष ही ओपाधिक है जिसमें कर्मपुरुष को इसका अधिकृत माना गया है।

प्रश्न : पुरुष के धातु, भेद, स्वरूप का वर्णन करें?

उत्तर : चक्रपाणि ने **''पुरुषधारणाद् धातुरिति''** भी कहा है।

एकधातु पुरुष : शुद्ध रूप ही एकधातु पुरुष है। यह केवल चेतनाधातु रूप निर्विकार एवं यही शरीर में चेतन स्वरूप में रहने वाला है। यही सूक्ष्म शरीर धारण करके प्रत्येक जीव में रहने से जीवात्मा कहलाता है।

द्विधातु पुरुष : विकल्प भेद से विचार करने पर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा अग्निसोमीय भेद करते हुए पुरुष को द्विधातुक कहा जाता है।

त्रिधातु पुरुष : विकल्प भेद से विचार करते हुए त्रिदण्ड रूप, त्रिगुणात्मक एवं त्रिदोषात्मक तीन प्रकार के पुरुष का वर्णन किया गया है।

षड्धातु पुरुष : वैशेषिक एवं आयुर्वेद दर्शन में पंचमहाभूतों एवं जीवात्मा के समुदाय स्वरूप को षड्धातुज पुरुष कहा जाता है।

अत: मातृज, पितृज, रसज, आत्मज, सात्म्यज एवं सत्वज इन छ: भावों से भी शरीर के विभिन्न अंग, प्रत्यंग, प्रकृति आदि का निर्माण होने से यह छ: भेद रूप भी शरीर धारक होते हैं एवं ये छ: भेद पुरुष के सम्पर्क से सम्पन्न होते रहते हैं। अत: पुरुष का षड्धात्वात्मक भाव स्पष्ट प्रकट होता है।

त्रयोदशधातु पुरुष : ''धारणात् देहधातव:'' का व्यापक अर्थ प्रकट करते हुए सभी भाव इसके अन्तर्गत लिए जाते हैं।

''दोषधातुमलमूलं हि शरीरमिति'' ये तीनों दोष, रस रक्तादि सप्त धातुएं एवं मूत्र पुरीषादि मल मिलकर इन 13 शरीर धारक भावों से पुरुष को भी त्रयोदशधातु कहा जा सकता है। क्योंकि शरीर के ये धारक भाव भी पुरुष के सहयोग से अपना कार्य करने में समर्थ हैं।

सप्तदशधातु पुरुष : एक आत्मा, दश इन्द्रियां, एक मन, अर्थ या पंच महाभूत मिलकर 17 धातु रूप होते हैं। धातु स्वरूप धारक भाव चेतना सहित पुरुष को ही लक्षित करते हैं अत: पुरुष को 17 धातु वाला भी कहा जाता है।

चतुर्विंशतिधातु पुरुष (राशि पुरुष) : सृष्टि उत्पत्ति के मूलभूत उत्पादन एवं उत्पादक तत्व संख्या की दृष्टि से 24 माने गए हैं। अत: पुरुष के साथ इनका भी सम्बन्ध होने से पुरुष को चौबीस तत्वों वाला बताया गया है। ये 24 तत्व समुदाय, राशि या समूह से संयुक्त होने से इसे ही, **राशिपुरुष** भी कहा जाता है।

बुद्धीन्द्रियमनोर्थानां विद्यायोगधरं परम,
चतुर्विंशतिकोह्येष राशि: पुरुषसंशक:। च0शा01/35

ये चौबीस तत्व इस प्रकार हैं : मन, दस, इन्द्रियां, पांच अर्थ (महाभूत) सोलह विकार एवं अष्ट धातु की प्रकृति अर्थात् अव्यक्त (प्रकृति+पुरुष) महान् अहंकार एवं पंचतन्मात्रायें इस प्रकार दोनों मिलकर 24 तत्व होते हैं। चरक ने भी इन्हीं 24 तत्वों को स्वीकार किया है। महान् के स्थान पर बुद्धि शब्द बताया है।

पंचविंशति तत्वों वाला पुरुष : आयुर्वेद में चरक स्वयं 24 तत्वों को मानते हैं किन्तु सुश्रुत सांख्य सम्मत 25 तत्वों को स्वीकार करते हैं। समस्त भूतों का कारण किन्तु स्वयं कारणरहित, त्रिगुणसहित, अष्टविध प्रकृति रूप युक्त एवं अखिल जगत् की उत्पत्ति का हेतु अव्यक्त है। सुश्रुत ने प्रकृति से लेकर महाभूतों तक 24 तत्वों को पूर्णतया अचेतन माना है। अत: पच्चीसवां तत्व पुरुष कार्यकारण से संयुक्त होने पर चेतना देने वाला है। इस प्रकार तत्व 25 माने गए हैं। अत: **'पंचविंशतितत्वात्मक या चतुर्विंशतितत्वात्मक पुरुष'** ही चिकित्साधिकृत पुरुष है।

प्रश्न : कर्मपुरुष या चिकित्सा अधिकृत पुरुष का वर्णन करें?

उत्तर : आयुर्वेद में वर्णन है- स एष कर्मपुरुष: चिकित्साऽधिकृत। (सुश्रुत) सत्व (मन), आत्मा एवं शरीर ये तीनों तिपाई के समान है। इस तिपाई स्वरूप संयोग पर सचेतन दृष्टि स्थित है। इसी संयोग से संयुक्त रूप को पुरुष, कर्म का समुदाय एवं अधिष्ठान होने से कर्मपुरुष कहा जाता है। 24 तत्वों की राशि (समूह) होने से यही **राशिपुरुष** कहलाता है। चेतन व अधिकरण भी इसको कहा जाता है। न तो चिकित्सा अकेले शरीर की ही होती है एवं न आत्मा की। क्योंकि आत्मा निर्विकार एवं अकेला शरीर चेतन नही है। अत: दोनों का संयोग रूप यह **कर्मपुरुष ही चिकित्सा का अधिकारी है।** आयुर्वेद में आत्मा

अथवा पुरुष के तीन रूप माने गए हैं। 1) परम आत्मा, 2) आतिवाहिक या सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा तथा 3) स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष। तीसरा स्वरूप ही चिकित्सा का पूर्ण रूप से अधिकारी होने से चिकित्साधिकृत पुरुष कहा जाता है। मन के विकाराभाव कर्म को आत्मा शरीर द्वारा ही भोगती है एवं विकार इसी शरीर में उत्पन्न होते हैं अत: यही चिकित्सा का अधिकारी है।

कर्मपुरुषसम्बन्धी विभिन्न विचार : जब अपने पूर्वकृत कर्म के वशीभूत होकर पुरुष (आत्मा) इन 24 तत्वों से संयोग करता है तब उसमें चेतना आती है एवं भोक्ता बन जाता है।

यह चतुर्विंशतिधातु पुरुष ही कर्मपुरुष है। रोगारोग्य की प्रवृत्ति इसी पुरुष के लिए हैं। अत: आरोग्य संरक्षण तथा रोगनिवारण रूप दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ विद्वान् इसी पुरुष का ग्रहण करते हैं। जन्म धारण एवं मुक्ति में इस राशिपुरुष में कर्म का फल, ज्ञान, मोह, सुख, दु:ख, जीवन तथा यह मेरा है, मैं इसका हूं आदि प्रतीतियां होती हैं। इन्हीं बातों को समझने वाला जीवन मरण की परम्परा एवं चिकित्सा को जानता है। इसी कारण इसे कर्मपुरुष कहा जाता है।

पुरुष के गुण : अत: आयुर्वेद में पुरुष को जिस दृष्टि से देखा जाता है वह कार्य, स्वरूप एवं स्वभाव भिन्नता का ही परिचायक है। पुरुष का विशेष गुण यही है कि वह विविध कार्य का कर्त्ता, द्रष्टा एवं भोक्ता भी है।

1. सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। 2. मूल प्रकृति से तन्मयत्व है। 3. अव्यक्त है। 4. अनादि है। 5. ज्ञानवान् है। 6. शरीर छोड़ना एवं धारण करना स्वभाव है जो कर्मफल भुक्त होने तक बना रहता है। 7. अत: फलभोक्ता भी है। 8. क्षेत्रज्ञ है। 9. यह वशी है। 10. सर्वयोनिगत है। 11. जीवस्वरूप है। 12. एक होते हुए भी अनेकों में प्रतीत होता है। 13. सुख दु:ख का कर्त्ता है। अत: चेतन भावों की सभी क्रिया सम्पादन करने वाला, विविध गुणों को प्रकट करने वाला, अनेक स्वरूपों में प्रकट होने वाला, मोक्ष का प्रवर्तक पुरुष निर्गुण होते हुए भी विविध गुणों वाला प्रतीत होता है।

प्रश्न : चिकित्सा एवं आतिवाहिक पुरुष का वर्णन करते हुए सूक्ष्म शरीर का वर्णन करें?

उत्तर : कर्म पुरुष को ही चिकित्साधिकृत पुरुष भी कहा गया है। चौबीस तत्वों वाले राशिपुरुष में चिकित्सा आदि कर्म, कर्म का फल, विधि विषयक ज्ञान, मोह, सुख, दु:ख, जीवन-मरण, आत्मीय भाव प्रतिष्ठित रहते हैं। जो इन सभी विषयों को भली प्रकार जानता है, वह जन्म, मृत्यु की परम्परा, चिकित्सा तथा अन्य विषयों को भी जानता है वही चिकित्सा पुरुष है।

दूसरे शब्दों में शरीर की चिकित्सा होते हुए भी आत्मा के साथ रहने तक ही है एवं आत्मा निर्विकार होने से इसमें रोग होते नहीं हैं तथापि जब आत्मा का शरीर से संयोग होता है तो प्रत्येक शरीर में रहने वाली आत्मा के विद्यमान रहते हुए शरीर के रोगों की चिकित्सा की जाती है अत: इस जीवात्मा को चिकित्सापुरुष भी कहा गया है। यही चिकित्सा का अधिकारी पुरुष है।

आतिवाहिक पुरुष : इसे लिंग शरीर भी कहते हैं। संक्षेप में जीव भी यही है। शुक्र शोणित संयोग के पश्चात् तीसरी वस्तु यही है। यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए गर्भाशय में प्रवेश करते समय इसका दर्शन नहीं होता। दिव्य दृष्टि से देखा जा सकता है। जब आठ तत्वों वाला सूक्ष्म शरीर एक शरीर से दूसरे में जाता है तब यह जाने वाला जीव ही आतिवाहिक पुरुष कहा जाता है। यह कर्मफल का अधिकारी भी है। स्थान भेद से इसे कर्मपुरुष भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर वर्णन में इसका स्वरूप बताया गया है।

सूक्ष्म शरीर वर्णन : शरीर के मुख्य दो विभाग किये गए हैं। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर के ज्ञान से पूर्व शरीर की सूक्ष्म रचना का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा में भी शारीरिक ज्ञान से पूर्व सूक्ष्म शरीर का ज्ञान आवश्यक समझा जाता है।

सृष्टि की उत्पत्ति का सर्वप्रथम तत्व अव्यक्त है। अव्यक्त से महान् या बुद्धितत्व तथा इसी से अहंभावयुक्त अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार की उत्पत्ति से त्रिगुण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सात्विक गुण, राजस गुण, तामस गुण, सात्विक गुण का जब राजस से संयोग होता है तब एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां तथा उभयात्मक मन। राजस एवं तामस गुणों के संयोग से पंचतन्मात्राओं और इन्हीं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इनको इस प्रकार भी दर्शाया जाता है।

सूक्ष्म शरीर स्वरूप : महाभूतों को विशेष तथा तन्मात्राओं को सूक्ष्म या अविशेष कहा जाता है। ये महान् आदि में लय होने के समय तक सदैव बने रहते हैं तथा जन्मते मरते भी रहते हैं अत: सूक्ष्म कहे जाते हैं।

स्वरूप : मन, बुद्धि (महान्), अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राओं का समूह अर्थात् ये 18 मिलकर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। (सांख्यकारिका)

श्री गौड़पादाचार्य ने 8 तत्वों को ही सूक्ष्म शरीर बताया है जो महान्, अहंकार, मन एवं पांच तन्मात्राएं हैं।

परिभाषा व लक्षण : 1. यह सूक्ष्म शरीर सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला, किसी भी योनि में आसक्ति (लगाव) नहीं रखने वाला, नियत अर्थात् मोक्ष तक रहने वाला, महान् से लेकर तन्मात्रा तक के सृष्टिक्रम में रहने वाला है। भोगरहित, लययुक्त तथा धर्म और अधर्म के भाव से संसरण करता है अतः सूक्ष्म कहलाता है।

2. सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार के आवरण या शरीर को बनाती है जिसे लिंग कहते हैं। यह लिंग सृष्टि के आरम्भ से ही उत्पन्न होकर प्रलय तक बना रहता है अतः नित्य होता है। इसकी गति बाधारहित होती है। यही कारण है कि यह शिला में भी प्रवेश कर सकता है तथा जल में भी बना रहता है। इसकी रचना महतत्व से लेकर सूक्ष्म भूत अर्थात् तन्मात्राओं तक से संयुक्त होकर अठारह तत्वों से होती है।

इसको लिंग नाम देने का कारण यह है कि अन्त में इसका लय प्रकृति में हो जाता है। व्युत्पत्ति के अनुसार–**''लयं गच्छतीतिलिंगम''** महाप्रलय के बाद लिंग शरीर का अस्तित्व नहीं रहता है। प्रधान की स्थिति तो प्रलय के बाद भी होती है। यह लिंग विभु अर्थात् व्यापक नहीं है। यह अणु परिमाण ही होता है। क्योंकि इनमें मन की प्रधानता होती है। मन अन्नमय होने से विभु नहीं हो सकता।

इस सूक्ष्म शरीर को स्थूल की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार चित्र बिना दीवार के, छप्पर बिना खूंटे के नहीं टिक सकते उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के बिना नहीं रह सकता अतः 25 तत्वों के इस सृष्टिक्रम में सूक्ष्म शरीर घूमता रहता है तथा अनेक वस्तुओं के निर्माण में सहायक होता है। इसके बिना स्थूल शरीर उत्पन्न ही नहीं होता क्योंकि वह स्थूल रचना सूक्ष्म तत्वों पर आधारित है।

प्रश्न : मन के लक्षण, परिभाषा, निरुक्ति एवं उत्पत्ति बताते हुए मन की उभयात्मकता सिद्ध कीजिए?

उत्तर : समस्त सृष्टि अन्तश्चेतन और बहिरन्तश्चेतन नाम से विभक्त हैं। बहिरन्तश्चेतन में पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां विशेष रूप से कार्य करती है। इनके कार्य की स्थिति मन पर आधारित है जिसे अन्तःकरण या आभ्यन्तर इन्द्रिय कहा गया है। अन्तश्चेतन जीवधारियों में केवल अन्तःकरणों की प्रमुखता है जिनमें मन का स्थान सर्वोपरि है।

मन की परिभाषा– जिस इन्द्रिय से सुख, दुःख आदि का ज्ञान होता हो एवं जो स्पर्शरहित होते हुए भी क्रियाशील हो उसे मन कहते हैं।

मन का लक्षण :

1. **लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।** च०शा०1/8
2. **सतिह्यात्मेन्द्रियर्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।**
3. **वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।** (चरक शा० 1/18)
4. **आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।** (वै०सू०)
5. **सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।** (त०स०)

1. ज्ञान का होना अथवा न होना मन का ही लक्षण है।
2. आत्मा इन्द्रियां और इन्द्रियों के विषय के सन्निकर्ष होने पर भी मन के सान्निध्य के बिना ज्ञान नही होता है।
3. मन के अयोग से ज्ञान नहीं होता किन्तु सहयोग से ज्ञान होता है।
4. आत्मा इन्द्रियां और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर ज्ञान होना एवं न होना मन का लक्षण है।
5. सुख दुःखादि की प्राप्ति कराने वाले साधन रूप इन्द्रिय को मन कहते हैं।

मन की उभयात्मकता : इन्द्रियों के विकार रहित एवं विषय से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान प्राप्त होता है और कभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। यहां ज्ञान का होना और नहीं होना किसी कारण का सूचक है। वह कारण मन है। जब मन का इन्द्रियों के साथ संयोग रहता है तब इन्द्रियां अपने अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियों के साथ मन का सानिध्य आवश्यक है। (चरक)

सुश्रुत ने उभयात्मकं मनः कहा है। कमेन्द्रियों को कर्म के लिए प्रेरित करने वाला एवं ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने

वाला होने से यह उभयात्मक है। कमेन्द्रियां एवं ज्ञानेन्द्रियां दोनों इसी के साथ सम्बन्धित होने से यह दोनों के साथ रहता है। अतः मन को उभयार्थक भी कहा जाता है।

मन की निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति :

1. **''मन्यते ज्ञायते अनेन इति मनः।''**
2. **''मन्यते ज्ञायते अवबुद्ध्यते अनेन इति मनः।''** (श०क०द्रु०)
3. **''मनस्यति अनेन इति मनः।''**

मन् ज्ञाने धातु से मनस् या मन शब्द निर्मित हुआ है जिसके अनुसार उपरोक्त व्युत्पत्ति की गई है।

अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है या ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे मन कहते हैं। दूसरे रूप में जिससे मनन किया जाये, बोध किया जाये, उसे मन कहते हैं। बाह्येन्द्रियों से ग्रहण न किये जाने वाले गुणों का जिससे ग्रहण किया जाये, उसे मन कहते हैं।

प्रश्न : मन के अवस्था रूप भेद एवं सात्विादि भेदों का नामोल्लेख करें?

उत्तर : मन का विशेष निरूपण योगवाशिष्ठ में किया गया है। महर्षि वशिष्ठ के अनुसार मन और कर्म का, जीव और मन का पृथक् अस्तित्व नहीं है। मन बिना कर्म के नहीं रह सकता और बिना मन के जीव की गति नहीं होती है। यह मन सभी प्रकार के इन्द्रिय-विषयों को ग्रहण करता है अतः अनेक कार्यों के अनुसार मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं देखी जाती है। प्रधान रूप में मन की तीन अवस्थाएं हैं-जीव, अहंकार, देह बताई हैं इनमें जीव मन की परम सूक्ष्म अवस्था है।

कार्यकारण भेद से अन्य तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है-

1. जाग्रत, 2. स्वप्न, 3. सुषुप्ति इनमें भी जाग्रत के तीन अवस्था भेद हैं- 1. बीज जाग्रत, 2. जाग्रत, 3. महाजाग्रत। इसी प्रकार स्वप्नावस्था के भी तीन भेद किये गए हैं-1. जाग्रत स्वप्न, 2. स्वप्न, 3. स्वप्न जाग्रत। स्वप्नावस्था के अनुसार मन के भी सात अवस्था भेद हैं-1.स्वप्न जागर, 2. संकल्प जागर, 3. केवल जागर, 4. चिर जागर, 5. घन जागर, 6. जाग्रत स्वप्न, 7. क्षीण जागर।

मन के सात्त्विकादि भेद : मन के सात्त्विकादि तीन भेद किये गए हैं। धार्मिक भावना, स्वाध्याय एवं पवित्रता के भाव होने से सात्त्विक स्वरूपा होता है, रजोगुण की अधिकता से काम क्रोधादि प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। शोक, अज्ञानता एवं मोह की प्रवृत्ति से तमोगुणी दृष्टि गोचर होता है। इनमें सत्व, रज एवं तन का प्रभाव देखा जाता है।

प्रश्न : मन के गुणों का परिचय दें?

उत्तर : 'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।' (च०शा०अ०2!)

मन के दो गुण हैं- 1. अणुत्व जिसे सूक्ष्म तत्व कहा जाता है। 2. दूसरा एकत्व है। अतः मन प्रत्येक शरीर में एक और अणु परिमाण में होता है। यदि मन को महान् और अनेक मानें तो व्यापक तथा अनेक इन्द्रियों से एक साथ संयोग होने के कारण एक समय में अनेक ज्ञान होने लगेंगे किन्तु ऐसा नहीं होता है अतः मन एक और अणु परिमाण है।

न्याय मुक्तावली के अनुसार मन के आठ गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, पर, अपर और संस्कार। इनके अतिरिक्त सत्व, रज और तम भी मन के विशेष गुण माने जाते हैं।

मन का अणुत्व : शास्त्रो में मन को अतीन्द्रिय एवं उभयेन्द्रिय कहा गया है। यह अणु स्वरूप में शरीर में रहता है अणु परिमाण वाला द्रव्य ही सम्पूर्ण गति सम्पन्न करता है। वह मन के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं है। अणुत्व कहने का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। आत्मा के समान विभु होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं है यह तो अणु रूप शरीर के किसी भी सूक्ष्म भाग में रहता हुआ अपनी सूक्ष्मता, चंचलता तथा तीव्र गति के कारण सम्पूर्ण देह में व्याप्त की तरह प्रतीत होता है। अणुत्व के कारण ही एक विषय से दूसरे विषय में बहुत शीघ्रता से प्रवेश होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से शब्द से भी अधिक प्रकाश की गति है। किन्तु मन, अणु परिमाण वाला होने से प्रकाश से भी अधिक गति करने वाला है। हजारों मील दूर किसी देखे हुए देश, विदेश के स्थानों पर स्मरण मात्र से मन का वहां पहुंच जाना साधारण बात है।

मन का एकत्व : मन को एक एक ही माना है। अतः वह एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ संयोग करता हुआ उसी के विषय को ग्रहण करता है। कभी-कभी भोजन करते समय, अध्ययन, अध्यापन करते समय अनेक विषयों का एक साथ ही ज्ञान होना प्रतीत होता है किन्तु यह मात्र भ्रम ही है। मन में अणुत्व गुण के कारण एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय तक इतनी शीघ्रता से गति होती है कि काल का ज्ञान न होने से मन में अनेकता की प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक सौ कमल के पत्तो को सूई एक साथ में भेदती है किन्तु सूई की नोक एक के बाद दूसरे पत्ते बो बेधते हुए जाती है। अतः यह कार्य इतनी शीघ्रता से होता है एक साथ सीधे करना मालूम होता है। उसी प्रकार मन में भी देखना, सुनना एवं बोलना क्रम से होता है।

प्रश्न : मन के पर्याय शब्दों को स्पष्ट करें?

उत्तर : जैसा कि मन शब्द की निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है अर्थात् जिस प्रकार का कर्म करता है या जिस कार्य से सम्बन्ध रखता है उसी के अनुरूप पर्याय नाम बनाए गए हैं। जैसे मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, चेतस, हृदय, स्वांत, हृत्, मानस, कर्म, कल्पना, वासना, विद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रियां, माया, प्रकृति, क्रिया आदि।

शरीर को चेतन करने वाले कारण रूप मन को **चेतन** कहा है। जब किसी वस्तु के विषय के तर्क के बाद निश्चित होकर यह वस्तु यही है, इस प्रकार का निर्धारण करने में मन को **बुद्धि** कहा जाता है। शरीर में रहते हुए आत्माभिमान करते हुए अपनी सत्ता को मानता है तब इस अभिमान के कारण यह **अहंकार** कहलाता है। किसी भी प्रकार के असत्य कर्म की ओर झुकाव होने से उससे संयोग करने के लिए दौड़ता है तब इसे **कर्म** कहते हैं। जब अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञानवश होने से इच्छित विषयों की ओर ध्यान लगता है तब इसे **कल्पना** कहते हैं। जब किसी पूर्व अनुभूत विषय को देखकर इसे मैंने पहले देखा है इस प्रकार का ज्ञान होने से **स्मृति** कहलाता है। सांसारिक विषयों में विशेष आसक्त होने से इसे **वासना** कहा गया है। जब यह अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तब इसे **विद्या** कहते हैं। आत्मस्वरूप का विस्मरण करने से **विस्मृति** कहलाता है। इन्द्रियों से प्राप्त विषयों को आत्मा तक पहुंचाने वाला होने से **अन्तःकरण** रूप इन्द्रिय कहा जाता है। ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को छिपाकर सत्ता एवं असत्ता के विकल्प्य होने से **माया** कहा जाता है। अनेक प्रकार की काल्पनिक सृष्टि का निर्माण करने से इसे **प्रवृत्ति** कहा जाता है।

मन के दोष : रज एवं तमोगुण के कारण मन में काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष, विषाद, असूया, दैन्य, मात्सर्य, दम्भ आदि विकार मानस दोषों के कारण उत्पन्न होते हैं। इनमें इन्द्रिय विषयों की विशेष इच्छा को **काम** कहते हैं। शरीर को पीड़ित करने वाला और दूसरे के अहित की प्रवृत्ति वाला विकार **क्रोध** कहलाता है। दूसरे के धन आदि के हरण की इच्छा का नाम **लोभ** है। दूसरे की उन्नति सहन न सकने या जलन डाह आदि का नाम **ईर्ष्या** है। मिथ्या ज्ञान का नाम **मोह** है। अपने गुणों को अधिक और दूसरों में कम मानने का नाम **मान** है। इसी की विशेष प्रवृत्ति का नाम **मद** है। अपनी इच्छित वस्तु के वियोग होने का नाम **शोक** है।

प्रश्न : मन के विषय एवं कार्य लिखें?

उत्तर : मन के विषय-

चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किचित्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ (च०शा० 1/20)

चिन्त्य, विचार्य, उह्य, ध्येय, संकल्प तथा अन्य जो भी भाव मन के द्वारा जाने जाते हैं वे सभी मन के विषय कहलाते हैं। इनमें मन के द्वारा चिन्तन किये जाने वाले विषय **चिन्त्य** कहलाते हैं, जैसे क्या करने योग्य है अथवा क्या नहीं करने योग्य है। किसी विषय के लाभ हानि या गुण का विचार करना **विचार्य** कहलाता है। जो विषय युक्ति या तर्क द्वारा परीक्षण किया जाता है उसे **ऊह्य** कहते हैं। एकाग्र मन से किसी वस्तु का ध्यान किया जाना **ध्येय** कहा जाता है। संकल्प योग्य विषय को **संकल्प्य** कहते हैं, अर्थात् गुण दोषका ज्ञान करने वाले कर्त्तव्याकर्त्तव्य से अभीष्ट प्राप्ति के लिए निश्चय करना ही संकल्प है।

मन के कार्य- किसी भी द्रव्य की सिद्धि उसके गुण कर्मों पर ही आधारित है। अतः गुण के विषयों के समान मन के कुछ विशिष्ट कर्मों का उल्लेख किया गया है। चरक में निम्नलिखित कर्म बताये हैं-

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्थ निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥ (च०शा० 1/21)

इन्द्रियों का नियन्त्रण करना, स्वयं का निग्रह करना, अपने को अहित विषय से रोकना, तर्क एवं विचार करना आदि मन के कर्म कहे जाते हैं।

अत: मन के विषयों में अनेकता की प्रतीति होती है। सात्विकादि स्वरूपों में नाना प्रकार का संकल्प विकल्प करता रहता है। धर्माधर्म, मोह, व्यभिचरण, उपकारक, अपकारक, गुणग्राही एवं दोषग्राही, रूपग्राही, गन्धग्राही आदि विविध प्रवृत्तियां भी मन के विषय ही है।

प्रश्न : मन की उभयज्ञता को स्पष्ट करें?

उत्तर : उभयात्मकता एवं स्वरूप : यद्यपि इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए इसे अणु रूप बताया गया है फिर भी कहीं गतिशील प्रवृत्ति करने वाला, इन्द्रिय, अतीन्द्रिय, उभयेन्द्रिय, आत्मा एवं इन्द्रियों की संयोजक कड़ी तथा आहंकारिक, भौतिक एवं मानसिक बताया गया है। अत: इसका स्वरूप निर्धारण करना आवश्यक है। यद्यपि सांख्य मन का समर्थन करते हुए सुश्रुत ने 11 इन्द्रियों की उत्पत्ति वैकारिक और तैजस अहंकार की सहायता से मानी है। अत: इन्द्रियों के समान मन भी आहंकारिक है। किन्तु जहां आयुर्वेद चिकित्सा का प्रश्न है चरक और सुश्रुत ने इन्द्रियां और इन्द्रियार्थ दोनों को ही भौतिक बताया है। यह सत्य भी है क्योंकि शारीरिक एवं मानसिक रोगों की चिकित्सा में जिन भावों का ह्रास होता है वहां उन्हीं भावों की पूर्ति की जाती है तथा जहां जिन भावों की वृद्धि होती है वहां उनका अभाव कर दिया जाता है।

अत: यदि मन को आहंकारिक मानेंगे तो आहंकारिक रूप में किन्हीं द्रव्यों की कल्पना ही नहीं की गई है जिनके प्रयोग से चिकित्सा की जा सके किन्तु भौतिक मानने पर चिकित्सा के अनुरूप अनेक भौतिक द्रव्य मिल जायेंगे अत: मन का स्वरूप आयुर्वेद दृष्टि से भौतिक है, चाहे दर्शनों में इसे आहंकारिक क्यों न स्वीकार किया गया हो।

मन का स्थान : संहिताओं में स्थूल रूप से इन्द्रियां, मन एवं आत्मा का स्थान हृदय ही बताया है फिर कार्य, विषय ग्रहण एवं क्रियाओं के आधार पर अन्य स्थानों का भी वर्णन किया है। चूंकि प्राणियों के गर्भावस्था में हृदय सर्वप्रथम प्रकट होता है एवं उसी के द्वारा बाद की सम्पूर्ण क्रियायें वृद्धि आदि होती है। इस कारण भी हृदय को मन, आत्मा आदि का स्थान मान लिया जाये जैसा कि आचार्यों ने लिखा है–

सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्। (अष्टांग हृदय शा० 4/13)
षडङ्गमङ्गविज्ञनमिन्द्रयाण्यर्थपंचकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।। (चरक 30/4)

अर्थात् मन का स्थान हृदय है जो दोनों स्तनों और उर:प्रदेश के मध्य में स्थित है।

प्रश्न : मन रोगों का कारण और अधिष्ठान-सिद्ध करें?

उत्तर : जब मन शरीर की उत्पत्ति में कारण है तो विनाश में भी इसी की कारणता है। जितने समय तक अपने कर्मों का फल भोगना होता है यह मन शरीर के साथ रहता है। जब कर्मफल पूर्ण हो जाते हैं तो शरीर को छोड़ देता है। शरीर को छोड़ना ही शरीर का विनाश है। दूसरे रूप में सत्वप्रधान मन स्वस्थ शरीर को उत्पन्न करता है और तमोगुण प्रधान मन शरीर के विकारों को उत्पन्न कर इसे नष्ट करता है। मन के विकृत होने से मानस रोग होते है।

सम्पूर्ण प्राणियों में रोगों के दो ही अधिष्ठान बताये गए हैं। शरीर और मन। अत: रोग शरीर और मन में ही उत्पन्न होते हैं। ज्वर, अतिसार, आदि शारीरिक रोग एवं काम, क्रोध आदि मानसिक रोग अपने अधिष्ठान में उत्पन्न होकर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अत: मन को रोगों का कारण और अधिष्ठान बताया गया है।

प्राय: उन्माद, अपस्मार, अतत्वाभिनिवेश आदि तथा स्मृतिनाश, बुद्धिहीनता आदि भी मानसिक रोगों में ही आते हैं।

मन का पांचभौतिकत्व : आयुर्वेदीय सृष्टि उत्पत्ति क्रम में अहंकार से पञ्च तन्मात्रा इनसे पञ्चमहाभूत तथा महाभूतों के संयोग से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है। (चरक) इस का कारण बताते हुए लिखा है कि यदि इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी जायेगी तो इनकी विकृति दूर करने में अहंकार का कैसे प्रयोग किया जा सकता है। साक्षात महाभूतों से उत्पत्ति मानने पर महाभौतिक पदार्थों द्वारा न्यूनाधिकता रूप विकृति को दूर किया जा सकता है एवं किया जाता रहा है, मन चूंकि उभयेन्द्रिय है, सभी इन्द्रियों के समपर्क में रहकर आत्मा तक इनके भावों को पहुंचाता है तथा इसकी उत्पत्ति में भी महाभूतों की कारणता स्पष्ट होती है अत: अन्य इन्द्रियों की तरह मन भी पांच भौतिक है।

प्रश्न : पंचमहाभूत एवं त्रिगुण की मानस एवं देह प्रकृति निर्माण में कारणता स्पष्ट करें?

उत्तर : प्रकृति में सभी कार्य द्रव्य महाभूतों के संगठन से बने है तथापि प्राणियों के शरीर में त्रिदोष पूर्ण रूप से पञ्चमहाभूतों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: शारीरिक त्रिदोष प्रकृतियों के निर्माण में महाभूतों का भी प्रभाव रहता है दोषज या देह प्रकृतियां सात होती है–वातज, पित्तज एवं कफज दोषों से 3, द्वन्द्वज दो दोषों से 3. एवं त्रिदोषज प्रकृति तीनों दोषों के योग से एक होती है व्यक्ति के शारीरिक स्वरूप का इन्हीं दोषज प्रकृतियों से ज्ञान किया जाता है।

शरीर पांचभौतिक है अत: इसमें पांच महाभूतों की उपस्थिति देखने में मिलती हैं इन्हीं से भौतिक प्रकृतियों का हमें ज्ञान होता है। पृथ्वी तत्व की अधिकता से शरीर को पार्थिव कहा गया है तथा प्राणि शरीर में जल से आर्द्रता, वायु से वात के रूक्षादि लक्षण, अग्नि से उष्णता तथा आकाशीय प्रकृति वालों में स्रोतस विशेष रूप से खुले होते हैं। इन प्रकृतियों के कम होने से इन्हीं के समान द्रव्यों से वृद्धि एंव बढ़े हुए लक्षणों को विशेष पदार्थों के प्रयोग से कम किया जाता है।

त्रिगुण से भी देह प्रकृतियां सात प्रकार की होती है स्वतन्त्र गुणों से सात्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकृति तथा दो–दो गुणों से मिलकर 3 द्वन्द्वज प्रकृति तथा एक तीनो गुणों (त्रिगुण) की मिश्रित प्रकृति होती है।

इनमें **सात्विक प्रकृति** वाले व्यक्तियों का स्वरूप एवं स्वभाव 7 प्रकार का होता है। 1. ब्रह्म काय, 2. महेन्द्र काय, 3. वरुण काय, 4. कौबेर काय, 5. गन्धर्व काय, 6. याप्य काय तथा 7. आर्ष काय।

राजस प्रकृति वाले व्यक्ति 1. पशु काय, 2. मत्स्य काय, 3. वानस्पतय काय के अनुकूल प्रकृति वाले होते हैं।

राजस प्रकृति : यह छ: प्रकार की होती है। 1. असुर काय, 2. सर्प काय, 3. शाकुन्त काय, 4. राक्षस काय, 5. पैशाच काय, 6. प्रेतकाय इनके अनुकूल स्वरूप एवं स्वभाव वाले होते हैं।

अत: देह प्रकृति के साथ भौतिक एवं त्रिगुण से भी व्यक्तियों की प्रकृति का ज्ञान किया जाता है। त्रिदोषज प्रकृतियों का जातज एवं गर्भज प्रकृति के रूप में पहले वर्णन कर दिया गया है।

भौतिक प्रकृति : महाभौतिक प्रकृतियों को स्पष्ट करते हुिए डल्हण ने लिखा है कि पांचो महाभूतों के 5, दो दो भूतों के मिलाने से 10 तथा तीन तीन भूतों को मिलाने से 10 तथा चार भूतो के मिलाने से 5 एवं सभी भूतों को मिलाकर एक। इस प्रकार भौतिक प्रकृतियां कुल 31 होती है।

तम निरुपण

प्रश्न : तम के विषय में क्या जानते हों? इसको दशम द्रव्य मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर : दार्शनिक दृष्टि से पदार्थ गणना में प्रथम पदार्थ द्रव्य है। कारण द्रव्य की कुल संख्या नौ (9) बताई गई है। द्रव्य का गुणाश्रय एवं कर्माश्रय होना ही सामान्य लक्षण है। इस कारण कुछ विद्वानों की मान्यता है कि तम (अन्धकार) को **दशम द्रव्य मानना** चाहिए क्योंकि इसमें नील रूप गुणाश्रय एवं संचालन क्रिया कर्माश्रय है। इस कारण द्रव्य का लक्षण इसमें पूर्ण रूप से घटित होता है। वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने इस विषय पर विचार व्यक्त करते हुए अनेक मतों की विवेचना की है।

विभिन्न मत :

विद्वानों के तम (अन्धकार) के प्रश्न पर चार प्रकार के विचार विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। (1) भाट्ट मीमांसको एवं वेदान्तियों का कथन है कि अन्धकार एक द्रव्य है। (2) श्रीधराचार्य का मत है कि अन्धकार वह है, जिस पर नीले रूप का आरोपण किया गया है। (3) तीसरा पक्ष प्रभाकर मीमांसकों का एक समुदाय है जो प्रकाश के ज्ञान के अभाव को अन्धकार मानते हैं। (4) चौथा पक्ष नैयायिकों का है जो प्रकाश के अभाव को ही अन्धकार मानते हैं।

इनमें भाट्टीमांसक और वेदान्तियों का कथन सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस मत के अनुसार :

''तम: खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति।।

मीमांसक कहते है कि यह नील रूप वाला है इसलिए निश्चय ही यह इसका गुण है एवं चलन क्रिया वाला है अत: यह इसका कर्म भी है। नीला अन्धेरा चलता है ऐसी प्रतीती होती, जहां प्रकाश नहीं होता वहां कज्जल या कालिख आदि के समान अन्धकार का नील रूप दृष्टिगोचर होता है। दीपक लेकर चलने पर पीछे–पीछे अन्धकार के चलने की प्रतीति या छाया

आदि के चलने की प्रतीति से गति कर्म की पुष्टि होती है। गतिलय कर्म एवं नील रूप गुण द्रव्य के लक्षण बताने के कारण द्रव्य मानना चाहिए।

इसी प्रकार पृथ्वी आदि नौ (9) द्रव्यों में पाये जाने वाले विशेष धर्म अन्धकार में नहीं पाये जाते अत: तम को उनके अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। यथा अन्धकार गन्ध से रहित है, अत: पृथ्वी नहीं हो सकता। नील रूप वाला है, अत: जल या तेज नहीं हो सकता क्योंकि इनमें अपना विशिष्ट रूप (भास्वर शुक्ल तथा अभास्वर शुक्ल) होता है, नील रूप वाला होने से वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा एवं मन भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन वायु आदि पांचों द्रव्यों में रूप नहीं होता।

तीसरा मत है कि इसको प्रत्यक्ष करने में चक्षु को आलोक (प्रकाश) की आवश्यकता नहीं होती जबकि अन्यों को प्रत्यक्ष करने में आलोक की आवश्यकता है, अत: अन्धकार को द्रव्य मानना चाहिए क्योंकि चलन कर्मवाला है, नील रूप वाला है, परत्व-अपरत्व व विभाग आदि गुणों में युक्त है एवं पृथ्वी आदि द्रव्यों के विशिष्ट धर्मों से विषमता रखने वाला है।

समाधान : उपरोक्त प्रथम मत का समाधान करते हुए यह कहा गया है कि गुण तो द्रव्यों में रहता है जबकि अन्धकार में कोई गुण नहीं है। आकाश के समान नीले रूप की तरह भ्रांति मात्र है। इसी प्रकार प्रकाश या प्रकाशवान् वस्तु चलती है और अन्धकार के चलने मात्र की भ्रांति से ही प्रतीति होती है।

अन्धकार अमान्यता : वैशेषिक मतानुसार एवं नैयायिकों के सिद्धांतों के अनुसार प्रकाश का ही अभाव अन्धकार माना जाता है।

आलोकाभाव एवेति तमो द्रव्यं न तु स्वयम्।
नील-क्रिया-प्रतीतिस्तु भ्रान्तिरेवेति मन्यताम्।

अर्थात् अंधकार प्रकाश का अभाव मात्र है स्वयं कोई द्रव्य नहीं है। उसमें नील गुण और चलन क्रिया की प्रतीति तो केवल भ्रममात्र है। इसी रूप में तम की द्रव्य मान्यता का खण्डन किया गया है।

इसलिए अन्धकार स्वरूपत: भावात्मक होने पर अर्थ में अभावात्मक है जैसे दु:ख का अभाव होने पर सुखत्व का आरोपण देखते हैं तथा संयोग का अभाव होने पर वियोग का ज्ञान होता है। उसी प्रकार प्रकाश के अभाव होने पर अन्धकार का ज्ञान होता है। अन्धकार का ग्रहण करने के लिए अधिकरण (स्थानादि) का भी ज्ञान आवश्यक नहीं है क्योंकि अभाव की प्रतीति के लिए अधिकरण आवश्यक नहीं। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि अन्धकार आलोक का ही अभाव है।

इसकी उत्पत्ति और विनाश दोनों ही होते हैं इसलिए सामान्य विशेष और समवाय में इनका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये तीनों पदार्थ नित्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म की उत्पत्ति होती है फिर भी इसमें अन्धकार का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि तम की उत्पत्ति इनकी उत्पत्ति से भिन्न है। नियम यह है कि उत्पन्न होने वाला द्रव्य अवयवों से आरम्भ होता है जबकि प्रकाश के दूर होते ही अन्धकार की उत्पत्ति अकस्मात् हो जाती है। अत: इसे अभाव में अन्तर्भावित करते हुए आलोक का अभाव ही माना है। स्वयं यह न तो कोई पदार्थ है और न ही कोई द्रव्य। अत: इसे दशम द्रव्य नहीं माना गया है।

प्रश्न : आयुर्वेद दृष्टि से द्रव्यों का व्यवहारिक स्वरूप अर्थात् आयुर्वेद में इनका उपयोग बताइयें?

उत्तर : सप्त पदार्थों की व्यावहारिकता भी द्रव्यों पर ही आधारित है तथा समस्त जीव एवं निर्जीव सृष्टि में द्रव्य ही प्रमुख है। अत: आयुर्वेद शास्त्र में जिन दो उद्देश्यों को महत्व दिया गया है उनकी पूर्ति में द्रव्यों का विशेष उपयोग है। शरीर का स्वास्थ्य बनाए रखना एवं रोग आने पर उसको दूर करना। चूंकि शरीर पांचभौतिक है एवं आहार तथा औषध द्रव्य भी पांच भौतिक है। स्वस्थ व्यक्ति के लिए उपयोगी आहार तथा रोगी के लिए व्यवहार में आने वाले औषध द्रव्य भी पांचभौतिक हैं। शरीर में आत्मा एवं मन के कार्य उनकी स्थिति तथा क्रियाशीलता योग्य द्रव्यों के व्यवहार पर ही निर्भर है। दिशा एवं काल भी देशीय एवं कालिक परत्वापरत्व को बताने वाले हैं। औषध एवं आहार द्रव्य तथा व्यवहार में भी दिशा काल का महत्व देखा जाता है। प्रत्येक द्रव्य के साथ आयुर्वेद में बताये गये शास्त्रीय व्यवहार का उन-उन प्रकरणों में वर्णन कर दिया गया है वहीं से सन्दर्भ एकत्र किए जा सकते हैं। प्रत्येक प्रकरण में इनका व्यावहारिक उपयोग बताया गया है।

प्रश्न पत्र-1 भाग-ख
पदार्थ विज्ञान एवं आयुर्वेद इतिहास प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : गुण की परिभाषा, लक्षण बताते हुए दार्शनिक एवं चरकमतानुसार वर्गीकरण एवं संख्या का उल्लेख करें?

उत्तर : आचार्यों ने सामान्य विशेष के पश्चात् गुणों का तीसरे स्थान पर वर्णन किया है। द्रव्य की सामान्य और विशेष परीक्षा में गुणों का महत्वपूर्ण स्थान है। व्यावहारिक दृष्टि से भी वस्तु का मूल्यांकन गुणों के आधार पर किया जाता है। द्रव्यों में पाई जाने वाली महाभूतों की विद्यमानता के कारण शरीर पर जो क्रिया होती है उस में गुण ही कारण है। दोषों की रचना में पंचमहाभूत कारण होते हुए भी गुणों के द्वारा ही उनके स्वभाव का वर्णन किया गया है। स्वस्थ एवं आतुर व्यक्ति के लिए जिन आहार एवं औषध द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उनका निरूपण भी गुणों वाले द्रव्यों के प्रयोग द्वारा उनमें समानता लाई जा सकती है। वैशेषिक दर्शन में मान्य गुणों के समान आयुर्वेद के सभी गुण स्पर्शेन्द्रिय से ज्ञात होने वाले गुण ही नहीं किन्तु बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग करने पर शरीर पर द्रव्यों की जो प्रक्रिया होती है, अत: दार्शनिक सम्मत गुणों को भौतिक गुण (Physical properties) कहा जा सकता है। किन्तु आयुर्वेद अनुसार समस्त गुणों को भौतिकता का स्वरूप लिए हुए रासायनिक गुण (Chemical properties) कहा जा सकता है। गुणों में यह स्वरूप भेद होने के कारण ही आयुर्वेद में वर्णित गुण-संख्या, नाम एवं रूप लक्षण आदि दृष्टि से वैशेषिक दर्शन के गुणों से भिन्न हैं।

यद्यपि न्याय एवं वेशैषिक के 24 गुणों में ही आयुर्वेदीय 41 गुणों का समावेश हो जाता है। केवल उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद में चिकित्सा सुविधा हेतु विस्तार से वर्णन किया गया है।

परिभाषा : समस्त द्रव्यों में पाये जाने वाले गुरु-लघु-शीत-उष्णादि भौतिक धर्मों को गुण कहते हैं।

लक्षण :

(1) **समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणं।** (च.सू. 1/51)
जो द्रव्य में आश्रित व समवाय सम्बन्ध से रहे तथा द्रव्य व कर्म से पृथक् हो उसे गुण कहते हैं।

(2) **अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः।** (कारि०)
द्रव्य में आश्रित होते हुए गुणरहित और क्रिया रहित हो उसे गुण कहते हैं।

(3) **विश्वलक्षणा गुणाः** (र०वै०)
अनेक लक्षणों वाले पदार्थ को गुण कहते हैं।

(4) **द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।** (वै०द०)
जो द्रव्य में आश्रित होते हुए गुण रहित हो किन्तु संयोग एवं विभाग में कारण न हो उसे गुण कहते हैं।

गुणों का वर्गीकरण- गणना की दृष्टि से गुण भी असंख्य है किन्तु साम्यता के भाव से अध्ययन सुविधा हेतु आयुर्वेद एवम् दर्शनग्रन्थों में इनका वर्गीकरण करते हुए विभाजन किया गया है। सांख्य तथा न्याय द्वारा मान्य 24 गुण तथा आयुर्वेद के 41 गुणों को निम्न रूप से विभाजित किया गया है।
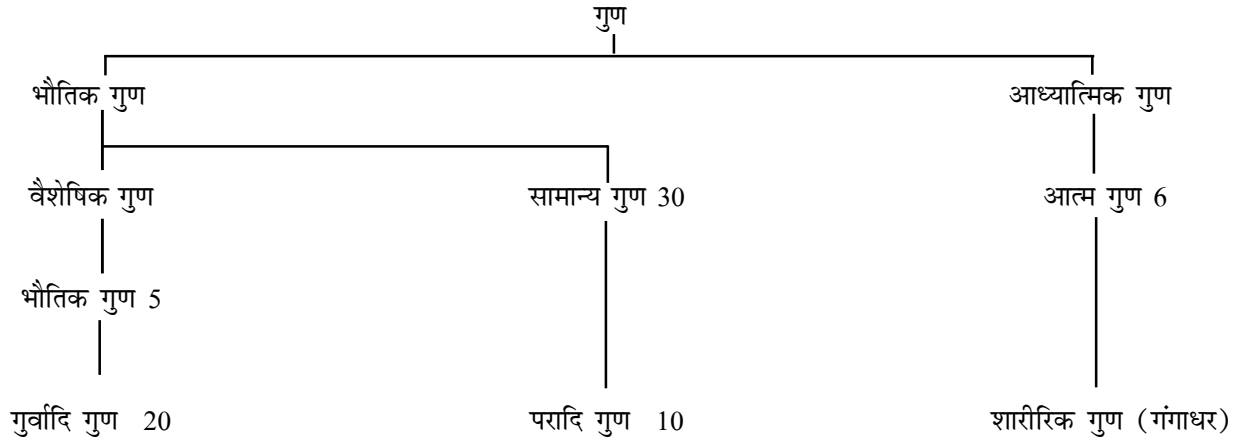
कारिकावली में इन गुणों का विभाजन करते हुए (1) मूर्तगुण, (2) अमूर्तगुण, (3) मूर्तामूर्त गुण, (4) अनेकाश्रित गुण एवं (5) एक वृत्ति रूप में विभाजन करते हुए विशेष गुण एवं सामान्य गुण से उल्लेख किया है।

विशेष गुण :

बुद्ध्यादिषटकं स्पर्शान्ता स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः।
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः॥

अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, रूप, गन्ध और स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, अदृष्ट, भावना ये शब्द विशेष गुण कहे जाते हैं।

सामान्य गुण :

संख्यादिपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः॥

संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, अपरत्व, नैमित्तिक, द्रवत्व, गुरुत्व और वेग इनको सामान्य गुण कहा जाता है।

गुणों का साधर्म्य वैधमर्य : गुर्वादि 20 गुण, परत्व, अपरत्व, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, गुणों को मूर्त कहा जाता है। ये सभी नौ कारण द्रव्यों में से स्थूल द्रव्यों में ही पाये जाते हैं जैसे पृथ्वी, गैस, तैल एवं वायु में। इस प्रकार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार और शब्द अमूर्त गुण कहे जाते हैं। अतः स्थूल स्वरूप रहित द्रव्यों में पाये जाते हैं जैसे-आत्मा और आकाश में। अतः इस प्रकार का परस्पर ग्रहण न होना वैधर्म्य कहलाता है। जो गुण जिन द्रव्यों में पाया जाये और जिन द्रव्यों में नहीं पाया जाये वही गुण परस्पर वैधर्म्य होता है।

कर्मजगुण :

'संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः'।

संयोग, विभाग तथा वेग इन्हें कर्मज गुण कहते हैं।

असमवायी गुण :

'स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दकाः।'

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, स्नेह, शब्द इन्हें असमवायी गुण कहते हैं।

प्रश्न : गुणों की संख्या की गणना, दर्शन एवं आयुर्वेद दृष्टि से कीजिए ?

उत्तर : उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार आयुर्वेद में गुणों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से बताई है :

सार्था गुर्वादयो बुद्धिप्रयत्नान्ताः परादयो गुणाः प्रोक्ताः। (चरक)

आध्यात्मिकगुण-6, परादिगुण-10, गुर्वादिगुण-20, विशिष्ट गुण-5 इस प्रकार गुणों की संख्या 41 मानी गई है। जिनका सामान्य परिचय आगे दिया जा रहा है।

विशिष्ट गुण (सार्था) :

''अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।''

भूतों के विशिष्ट गुणों तथा इन्द्रियों के विषयों को विशिष्ट गुण या शब्दादि गुण कहते हैं। ये संख्या में पांच हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। ये क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी इन भूतों के विशिष्ट गुण तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन इन्द्रियों के विशिष्ट विषय है।

अतः पंचमहाभूतों के पांच गुण विशिष्ट गुण माने गए हैं। वैसे तो सभी गुण पंचमहाभूतात्मक संगठन से बने हैं, परन्तु महाभूत के विशेष गुण होने के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध को विशिष्ट गुण कहा गया है।

(क) शब्द-''श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः।''

अर्थात् संयोग, विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द आकाश का गुण है। कान द्वारा ग्रहण होता है, क्षणिक है, कार्य कारण दोनों का विरोधी है।

(ख) स्पर्श-''त्वगिन्द्रियमात्रग्राही गुणः स्पर्शः'' अर्थात् केवल त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से जिस गुण का ग्रहण होता है उसको स्पर्श कहते हैं। जल में शीत, तेज में उष्ण तथा पृथ्वी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श होता है।

(ग) रूप-''रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणः'' अर्थात् चक्षु इन्द्रिय से जिस गुण का ग्रहण होता है उसको रूप कहते हैं। रूप नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। जल तथा तेज के परमाणुओं से नित्य और पृथ्वी के परमाणुओं से अनित्य है।

(घ) रस-''रसनाग्राहौ गुणो रसः'' अर्थात् रसना (जिह्वा) इन्द्रिय से ग्रहण होने वाले गुण का नाम 'रस' है। जल अन्तरिक्ष से गिरता हुआ पञ्च महाभूतों के गुणों से समन्वित होकर जंगम और स्थावर सभी मूर्त द्रव्यों का पोषण करता है जिसके अन्दर छः रस बनते हैं।

(ङ) गन्ध-''घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः'' अर्थात् जिस गुण का घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण होता है उसको गन्ध कहते हैं। गन्ध गुण केवल पृथ्वी द्रव्य में रहता है और सुरभि तथा असुरभि भेद से दो प्रकार का होता है।

आध्यात्मिक गुण :

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न और बुद्धि इन्हें आत्मगुण या आध्यात्मिक गुण कहते हैं। स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि बुद्धि विशेष होने से उनका बुद्धि में ही अन्तर्भाव किया गया है। ये आत्मा के विशेष होने से आध्यात्मिक गुण भी कहे जाते हैं।

बुद्धि : ''सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः'' सभी प्रकार के व्यवहारों के हेतु के ज्ञान का नाम बुद्धि है। अनुभूति तथा स्मृति भेद से बुद्धि दो प्रकार की होती है। संस्कार मात्र में जो ज्ञान होता है उसे स्मृति कहा जाता है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभूति कहा जाता है।

सुख : ''धर्मजन्यमनुकूलवेदनीयं गुणः सुखम्'' अर्थात् जो धर्म से उत्पन्न होता है तथा परम प्रेम का विषय है उस गुण को सुख कहा जाता है।

दुःख : ''अधर्मजन्यं प्रतिकूलवेदनीयं गुणो दुःखम्'' जो अधर्म से उत्पन्न होता है तथा परमद्वेष का विषय है उसे दुःख कहते हैं।

इच्छा : ''स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा'' स्वतः ही दूसरे के लिए अप्राप्त अर्थ की कामना या चाह का नाम इच्छा है। इच्छा के विषय अनुसार अनेक भेद है जैसे मैथुनेच्छा को 'काम' दूसरे को ठगने की इच्छा को 'उपधा' कहा जाता है।

द्वेष : ''प्रज्वलनात्मको द्वेषः'' जिसके उत्पन्न होने से अपने आपको जलने के समान अनुभव हो उसे द्वेष कहा जाता है। यह दु:ख यादगार के कारण आत्मा तथा मन के संयोग होने पर उत्पन्न होता है।

प्रयत्न : ''कृतिः प्रयत्नः'' किसी वस्तु के सम्पादन अर्थ की चेष्टा प्रयत्न कहलाता है, यह आत्मा और मन के संयोग होने पर इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होता है।

प्रश्न : गुर्वादि एवं परादि गुणों की संख्या एवं लक्षण बताइयें?

उत्तर : गुर्वादि गुण-(कर्म के असामान्य गुण)

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदुस्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्यया:।। (अ०ह्र०सू०)

गुर्वादि गुण- द्रव्य गुण शास्त्र की दृष्टि से गुणों में ये सर्वोपरि स्थान रखते हैं। प्रत्येक द्रव्य का महत्व भी इन्हीं गुणों के द्वारा देखा जाता है।

गुरु (Heaviness) : लोकभाषा में इसे भारीपन कहते हैं या गुण द्रव्यां के स्वाभाविक अध:पतन के कारणभूत होते हैं।

परिभाषा : जो गुरुपाक हो तथा जो शरीर में भारीपन उत्पन्न करे उसे गुरु कहा जाता है। जैसे उड़द की दाल, मूसली आदि।

लघु (Lightness) : लोकभाषा में इसे हल्कापन कहा जाता है। गुरु का ठीक विपरीत लघु होता है।

परिभाषा : जो लघुपाक हो तथा जिससे शरीर में लघुता जो वह लघु कहा जाता है। जैसे मूंग, खील आदि।

शीत (Cold) : लोकभाषा में इसे ठण्ड या ठण्डक कहा जाता है। यह दाह का शमन करता है।

परिभाषा : जिससे शरीर की उष्णता कम हो वह शीत गुण है। जैसे चन्दन आदि।

उष्ण (Heat) : इसे लोकभाषा में गर्मी कहते हैं इससे दाह बढ़ती है।

परिभाषा : जिससे शरीर में उष्णता बढ़े उसे उष्ण कहते हैं। यह शीत के ठीक विपरीत होता है। जैसे चित्रक आदि।

स्निग्ध (Soothingness) : इसे लोकभाषा में चिकनाहट कहते हैं।

परिभाषा : जिसमें चिकनाहट पैदा करने की शक्ति हो उसे स्निग्ध कहा जाता है। जैसे तिल, तेल।

रूक्ष (Dryness) : इसे लोकभाषा में रूखापन कहते हैं।

परिभाषा : जिससे शरीर में रूक्षता, कठिनता और शुष्कता उत्पन्न हो वह रूक्ष कहा जाता है-जैसे जौ आदि।

मन्द (Dullness) : इसे लोकभाषा में सुस्ती कहते हैं।

परिभाषा : जो शरीर में जाकर शमन कर्म करे वह मन्द कहलाता है। जैसे गिलोय आदि।

तीक्ष्ण (Sharpness) : इसे लोकभाषा में तेजी कहा जाता है।

परिभाषा : जो शरीर में प्रयुक्त होने पर शोधन कर्म करे वह तीक्ष्ण गुण कहलाता है। जैसे जयपाल आदि।

स्थिर (Immobility) : इसे लोकभाषा में गतिशीलता कहते हैं।

परिभाषा- जो शरीर में जाकर वायु और मलों को प्रेरणा दे वह सर गुण कहलाता है। जैसे अमलतास आदि।

मृदु (Softness) : इसे लोकभाषा में मुलामियत कहा जाता है। स्पर्श में जो कोमल और शिथिल प्रतीत हो उसे मृदु कहते हैं।

परिभाषा : जो शारीरिक अंगों में कोमलता और शिथिलता उत्पन्न करे वह मृदु गुण है। जैसे-एरण्ड तैल आदि।

कठिन (Hardness) : इसे लोकभाषा में कड़ापन कहा जाता है।

परिभाषा : जिसके द्वारा शरीर में कठोरता और दृढ़ता उत्पन्न हो उसे कठिन गुण कहते हैं। जैसे-प्रवाल, मुक्ता आदि।

विशद (Clearness) : इसे लोकभाषा में स्वच्छता कहा जाता है।

परिभाषा : जिसमें क्षालन (पिच्छिलता को नष्ट करने) की शक्ति हो वह विशद कहलाता है। यह अवयवों का विभाजक होता है। जैसे-क्षार आदि।

पिच्छिल (Sliminess) : इसे लोकभाषा में लुआब कहते हैं। यह द्रव्यों को चिपकाने वाला होता है तथा तन्तुल होता है।

परिभाषा : जिसके द्वारा शरीर में लेप कर्म हो उसे पिच्छिल कहते हैं। इससे शरीर में गौरव उत्पन्न होता है। यह अवयवों का संयोजक होता है। जैसे इसबगोल आदि।

श्लक्ष्ण (Smoothness) : इसे लोकभाषा में चिकनापन कहते हैं।

परिभाषा : जिसमें रोपण शक्ति हो उसे श्लक्ष्ण कहा जाता है। जैसे दुग्धपाषाण आदि।

खर (Roughness) : इसे लोकभाषा में रूखापन कहते हैं।

परिभाषा : जिसमें लेखन शक्ति हो वह खर कहलाता है। जैसे-करञ्जफल।

सूक्ष्म (Minuteness) : इसे लोकभाषा में बारीक कहा जाता है।

परिभाषा : जो सूक्ष्मता के कारण शरीर के समस्त अवयवों में प्रविष्ट हो जाये तथा सब स्रोतों को खुला रखे उसे सूक्ष्म कहते हैं जैसे-शराब आदि।

स्थूल (Bulkiness) : इसे लोकभाषा में मोटापन कहा जाता है।

परिभाषा : जो गुरुपाक है तथा स्थूलता के कारण स्रोतों का अवरोध करे वह स्थूल कहा जाता है। जैसे-पिष्टी, दही आदि।

सान्द्र (Solidity) : इसे लोकभाषा में गाढ़ापन कहते हैं। जो स्थूल और स्थिर हो उसे सान्द्र कहते हैं।

परिभाषा : जो शरीर में जाकर अवयवों का प्रसाधन करे वह सांद्र कहलाता है। जैसे-मक्खन, मलाई आदि।

द्रव (Fluidity) : इसे लोकभाषा में पतलापन कहते हैं जो सूक्ष्म और सब जगह व्याप्त होने वाला हो वह द्रव कहलाता है। (प्रियव्रत शर्मा द्रव्यगुण से साभार)

परिभाषा : जिसमें शरीर को आर्द्र करने, व्याप्त होने तथा विलीन करने की शक्ति हो उसे द्रव कहते हैं। जैसे-जल, दुग्ध आदि।

(द्रव्यगुण विज्ञान डा० प्रियव्रत शर्मा जी से साभार)

परादि गुण :

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः। (च.सू.)

अर्थात् परादि गुण 10 होते हैं- परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास।

1. परत्व-का भाव है 'प्रधानता'। एक जाति के अनेक द्रव्यों में जो प्रधान और उत्कृष्ट होता है उसे परत्व कहते हैं।

2. अपरत्व- परत्व के विपरीत अपरत्व होता है। इसका अर्थ है अप्रधानता। अपनी जाति में जो अप्रधान और अनुत्कृष्ट होता है उसे अपर कहते हैं।

3. युक्ति- दोष आदि की दृष्टि से औषध की समीचीन (युक्तियुक्त) कल्पना (योजना) को युक्ति कहते हैं। यदि औषध की कल्पना ठीक नहीं हुई तो उसे युक्ति नहीं कहते। जैसे पुत्र के अयोग्य रहने पर पुत्र नहीं कहते।

4. संख्या- गिनती या गणना व्यवहार के हेतु एक, दो, तीन आदि को संख्या कहते है। दोष, विकार तथा द्रव्य के भेद संख्या के द्वारा ही व्यक्त किये जाते हैं। जैसे-तीन दोष, आठ ज्वर, पचास महाकषाय, त्रिफला आदि।

5. संयोग- दो या अधिक द्रव्यों का परस्पर मिलना संयोग कहलाता है। यह संयोग वियुक्त पदार्थों का कालविशेष में अल्पकाल के लिए होता है और पुनः विभाग के द्वारा नष्ट हो जाता है। अतः यह अनित्य है।

कारण की दृष्टि से संयोग तीन प्रकार का होता है-एककर्मज, द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज।

6. विभाग- किसी संयुक्त द्रव्यसमूह से द्रव्यों को अलग करना विभाग कहलाता है। यह भी अनित्य है क्योंकि संयोग से यह नष्ट हो जाता है। संयोग के समान यह भी तीन प्रकार का होता है। द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज, एककर्मज।

7. पृथक्त्व- एक द्रव्य जो दूसरे द्रव्य से भिन्न करने वाला पृथक्त्व कहलाता है। इस प्रकार द्रव्यों के परस्पर पृथकबुद्धि उत्पन्न करने वाले गुण को पृथक्त्व कहते हैं।

8. परिमाण- माप तोल आदि मान व्यवहार का जो कारणभूत गुण है वह परिमाण कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है-दैर्ध्यमान और गुरुत्वमान। अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओं का माप तोल लिया जा सके वह परिमाण है।

9. संस्कार-जिस क्रिया के द्वारा द्रव्यों के स्वभाविक गुण में परिवर्तन लाया जाता है उसे संस्कार कहते हैं जैसे चावल के अनेक संस्कार है जिनके द्वारा वह ओदन, लाजा, चर्वण आदि में परिणत होकर विभिन्न गुण कर्मों का आश्रय बनता है।

वैशेषिक दर्शन में यह तीन प्रकार का माना जाता है-1. वेग, 2. स्थितिस्थापक, 3. भावना।

10. अभ्यास- किसी वस्तु का निरन्तर सेवन अभ्यास कहलाता है। चिकित्सा की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण गुण माना जाता है। व्यायाम आदि अभ्यास से ही लाभजनक हो सकते हैं। द्रव्य एवं कर्मों की चिकित्सा में अभ्यास हेतु इस गुण का निर्देश किया गया है। किन्तु एक रसाभ्यास हानिकर होता है।

न्यायोक्त चौबीस गुण- न्याय में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्व-बुद्धि-सुख-दु:ख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-गुरुत्व- द्रवत्व-स्नेह-संस्कार-धर्म-अधर्म-शब्द आदि कुल चौबीस गुण है।

आयुर्वेद में चिकित्सोपयोगी 41 गुणों का वर्णन किया गया है। न्यायादि दर्शन ग्रन्थों में चौबीस गुणों का उल्लेख मिलता है। न्याय ने विशेष रूप से उन्हीं गुणों का वर्णन किया है जो नव कारण द्रव्यों में विशेष रूप से विद्यमान रहते हैं।

इनमें से वायु में 9 एवं तेज में 11, जल, पृथ्वी तथा आत्मा में 14, दिशा और काल में 5-5, आकाश में 6 तथा मन में 8 गुण होते हैं।

प्रश्न : चरकोक्त 41 गुणों का न्यायोक्त 24 गुणों में समन्वय करते हुए गुणों का आयुर्वेद में चिकित्सकीय महत्व बताइयें?

उत्तर : आयुर्वेद में वर्णित 41 गुणों का इन्हीं 24 गुणों में समावेश हो जाता है। केवल उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद में गुणों का विस्तार किया गया है। गुर्वादि 20 गुण एवं शब्दादि 5 गुण प्रधान रूप में उपयोग में आते हैं। इन्हीं 25 गुणों का विस्तार किया है। इनमें कुछ अप्रधान होने से तथा कुछेक के आधे गुण होने से विस्तार नहीं किया गया। जैसे-युक्ति एवं अभ्यास अधिक बताए गए हैं यद्यपि ये दोनों संयोग-परिमाण एवं संस्कार में अन्तर्भाव हो सकते हैं।

प्रश्न : गुणों का आयुर्वेद में चिकित्सकीय प्रयोग क्या है, समझाइये ?

उत्तर : आयुर्वेद में वर्णित 41 गुणों को चार रूपों में विभाजन किया है-

आध्यात्मिक गुण : इनका उपयोग मन, आत्मा, बुद्धि एवं मन के विषय के रूप में उपयोग देखा जाता है। चूंकि आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वस्थ शरीर बनाये रखते हुए सर्वथा वेदना की निवृत्ति हो जाने पर मोक्ष प्राप्ति कराना है। अत: मन एवं आत्मा तथा बुद्धि को नियन्त्रण में करने के लिए इन गुणों का ज्ञान होना आवश्यक है ये गुण इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न एवं बुद्धि हैं।

गुर्वादि गुण : इन्हें शारीरिक गुण कहा जाता है ये संख्या में 20 होते हैं। शरीर के दोष, धातु एवं मलों की प्रवृत्तियां इन्हीं गुणों के द्वारा बताई जाती है। कारण एवं कार्य जितने भी द्रव्य बताये गये हैं उनकी प्रवृत्ति कार्य एवं लक्षण भी इन्हीं गुणों के द्वारा प्रकट किये जा सकते हैं। चरक ने आहार के जो भेद बताये हैं उनमें गुणों की दृष्टि से भी भेद आहार के बताये हैं। यह उनकी पाक क्रिया धातु एवं दोषों पर प्रभाव की दृष्टि से किया है।

भौतिक गुण : शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच भौतिक गुण आयुर्वेद में अनेक प्रकरणों में व्यावहारिक है। सामान्य व्यक्ति, रूग्ण व्यक्ति, सामान्य इन्द्रिय, विकृत इन्द्रिय, वस्तु के ज्ञान में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा कहीं कहीं शब्द के द्वारा भी पहचान में प्रयोग किये जाते है।

परादि गुण : ये दश गुण प्रायः व्यवहार में प्रयोग किये जाते हैं-ये पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथकत्व, परिमाण संस्कार एवं अभ्यास हैं।

रोगी परीक्षा, औषध द्रव्य परीक्षा, द्रव्यों की गणना, द्रव्यों का मेल, द्रव्यों को पृथक् करना, विभाजित करना, उनका मान (तौल) एवं विशेष द्रव्यों की भावना, मूर्च्छन, प्रक्रिया, पारद शोधन आदि संस्कार का प्रयोग किया जाता है। युक्ति का रोग पहचान एवं औषध निर्माण तथा सूत्र समझने में प्रयोग किया जाता है।

गुणों का चिकित्सा में उपयोग : गुर्वादि गुण द्रव्यों में पाये जाने से किसी योग में इनको मिलाना एवं दोष तथा प्रकृति के अनुसार रोग एवं रोगी में उपयोग किये जाने से विशेष महत्व है। रोगी के पथ्यापथ्य में भी इसी गुणों को देखकर प्रयोग कराया जाता है।

परादि गुणों का किसी योग के बनाने में पर, अपर, युक्ति, संस्कार, संख्या आदि गुणों की उपयोगिता देखी जाती है।

भौतिक गुणों का रोगी रोग परीक्षा इन्द्रिय विकार आदि में उपयोग देखा जाता है।

कर्म निरूपण

प्रश्न : कर्म के विषय में क्या जानते हैं परिभाषा, लक्षण एवं कर्म के भेद बताते हुए इसका आयुर्वेद में उपयोग बताइये?

उत्तर : षट् पदार्थ एवं द्रव्यों में क्रिया या गति, कर्म के द्वारा ही सम्पन्न होती है। द्रव्यों में दो प्रकार के धर्म रहते हैं, गुण और कर्म। दार्शनिकों ने द्रव्य में नित्य विद्यमान धर्म को गुण कहा है तथा जो समय-समय पर आवश्यकतानुसार उत्पन्न होता रहे उसे कर्म या क्रिया बताया है। कर्म संयोग या विभाग का कारण है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन्हीं पांच मूर्त द्रव्यों में कर्म की वृत्ति रहती है। आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा इन विभु द्रव्यों में कर्म की साक्षात् वृत्ति नहीं रहती। अतः कर्म सदा मूर्त द्रव्य में ही दृष्टिगोचर होता है अन्य में नहीं।

प्रश्न : कर्म की परिभाषा एवं लक्षण लिखें?

उत्तर : परिभाषा : किसी भी क्रिया को कर्म कहते है अथवा संयोग से भिन्न होते हुए भी संयोग के असमवायी कारण को कर्म कहते हैं।

कर्म के लक्षण :

1. **संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यताश्रितम्।**
   कर्त्तव्यस्य, क्रिया कर्म, कर्म नान्यदपेक्षते।। (चरक सूत्र 1/51)
2. **चलनात्मकं कर्म।** (तर्क भाषा)
3. **प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।** (चरक सूत्र 1/49)
4. **प्रवृत्तिस्तु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, प्रयत्नः, कार्यसमारम्भश्च** (च०वि० 8/77)
5. **नित्यावृत्तिसत्ता साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्।** (उपस्कार भाष्य)
6. **संयोगभिन्नत्वे सति संयोगसमवायिकारण कर्म।** (दीपिका)
7. **कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः।** (च.सू. 11/38)

(1) एक द्रव्याश्रित, गुण से रहित एवं संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करने में कारण हो उसे कर्म कहते हैं।

(2) गति या क्रिया का नाम कर्म है।

(3) प्रयत्नपूर्वक की गई चेष्टा ही कर्म कहलाती है।

(4) कार्य के लिए जो चेष्टा की जाती है, उसका नाम प्रवृत्ति है। उसी को क्रिया, कर्म, प्रयत्न और कार्य का समारम्भ भी कहा जाता है।

(5) कर्मत्व जाति कर्म में रहती है, जो स्थायी नहीं होता। सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है किन्तु द्रव्य-गुण तो कभी-कभी नित्य होते हैं जबकि कर्म सदा अनित्य होता है।

(6) कर्म संयोग का असमवायी कारण है, परन्तु स्वयं संयोग नहीं है।

(7) अर्थात् वाणी, मन तथा शरीर की त्रिविध प्रवृत्ति को कर्म कहते हैं।

कर्म की निरूक्ति :

'क्रियते इति कर्म'

जो किया जाए उसे कर्म कहते हैं। यहां कर्म शब्द कर्मकारक के लिए नहीं बल्कि क्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है जो **'कृ'** धातु से मनिन् प्रत्यय करने से बनता है।

प्रश्न : कर्म के सामान्य एवं न्यायोक्त भेद बताइये?

उत्तर : कर्म के भेद- आयुर्वेद में कर्म के इस दार्शनिक भेदों का यथासम्भव उल्लेख करते हुए भी स्वास्थ्य रक्षण एवं रोग निवारण हेतु विभिन्न अन्य कर्मों का भी उल्लेख किया है जिनमें शारीरिक, मानसिक और वाचिक तीन प्रकार के कर्म, संशोधन संशमन आदि दो प्रकार के कर्म, वमन-विरेचनादि पञ्चकर्म, यन्त्र-शस्त्र आदि द्विविध कर्म, इसी प्रकार सद्वृत पालन आदि लौकिक कर्मों का वर्णन किया है। जिनका सामान्य परिचय आगे दिया जा रहा है।

न्यायोक्त कर्म भेद- उत्क्षेपणमपक्षेणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति पञ्च कर्माणि। (कणाद)

अर्थात् उत्पेक्षण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन पांच प्रकार के कर्म बतलाये गए हैं। भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यक्गमन आदि का भी गमन में अन्तर्भाव हो जाता है।

1. उत्क्षेपण :

ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्पक्षेपणं कन्दुकादेः।

उछालने या ऊपर की ओर संयोग कराने में जो कारण होता है उसको उत्क्षेपण कहते हैं। जैसे गेन्द आदि का ऊपर उछालना अर्थात् जिस कर्म में ऊपर की ओर संयोग के साथ नीचे के प्रदेश से वियोग हो, उसी का नाम उत्क्षेपण है। जैसे पक्षी का पेड़ से ऊपर को उड़ना। शरीर अवयवों को ऊपर करना।

2. अपक्षेपण :

अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणं लोष्टादेः।

नीचे गिराने को अपक्षेपण कहते है अथवा जिस कर्म में ऊपर के भाग से वियोग तथा नीचे के प्रदेश से संयोग हो उसे अपक्षेपण कर्म कहते हैं। जैसे-वृक्ष से पत्र का गिरना। मिट्टी आदि के धूल कणों का गिरना। अपक्षेपण कर्म में आधुनिक वैज्ञानिकों का गुरुत्वाकर्षण प्रधान कारण माना गया है।

3. आकुञ्चन :

शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम् बाह्वादेश्चर्मादेर्वा।

सिकोड़ने को आकुंचन कहते है या जिस कर्म में शरीर के समीप भाग से संयोग एवं पूर्व भाग से वियोग हो वह आकुञ्चन कहलाता है। सामान्य व्यवहार में हाथ-पांव सिकोड़ना इसी के अन्तर्गत आता है। कच्छुए का अपने अंगों को समेटना तथा चमड़े आदि का धूप में सुखाने पर आकुञ्चन होना या सिकुड़ना।

प्रसारण :

विप्रकृष्टसंयोगहेतु प्रसारणम् वस्त्रादेर्धान्यादेर्वा।

फैलाने को प्रसार कहते हैं अर्थात् शरीर से दूर स्थान की ओर जो क्रिया संयोग कराती है, उसे प्रसारण कहते हैं। जैसे-हाथ-पांव आदि अंगों को फैलाना, वस्त्रों का फैलाना एवं धान आदि के ढेर को सूखने के लिए फैलाना आदि।

गमन :

अन्यत् सर्वं गमनम्।

ऊपर बताये गये चारों प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त जितने भी अन्य कर्म होते हैं वे गमन के अन्तर्गत ही आते हैं। जैसे **'ऊर्ध्वज्वलन'** (अग्नि के जलने पर लौ का ऊपर की ओर जाना), जल आदि के पर्वत से गिरने को **'स्यन्दन'** कर्म कहते हैं। वायु का चलन **'तिर्यग् गमन'** कहलाता है। मलादि का वेगपूर्वक अधोगमन **'रेचन'** कहलाता है। चक्र का अपनी धुरी पर गमन **'अवघट्टन'** कहलाता है।

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते।। 7, 11

कणाद के व्याख्याकार ने उपरोक्त कर्मों में चक्र के अपनी धुरी पर घूमने वाले कर्म अवघट्टन का भी गमन में ही वर्णन किया है।

प्रश्न : कर्म के आयुर्वेदीय दृष्टि से व्यावहारिक अध्ययन पर प्रकाश डालियें?

उत्तर : **'चरक'** एवं **'सुश्रुत'** के टीकाकारों ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है-

एतच्च प्राधान्यादुच्यते तेन बृंहणाद्यपि बोध्यम्। (चक्रपाणि)

प्रसारणाकुञ्चनविनमनौन्नमनतिर्यग्गमनानति पंच चेष्टा:।। (गयदास तथा डल्हण)

जिस प्रकार दार्शनिक पक्ष कर्म के पांच प्रकारों का उल्लेख करते हैं, उनका आयुर्वेद में पांच चेष्टाओं के नाम से विवेचन किया गया है। प्रसारण, आकुञ्चन, विनमन, उन्नमन और तिर्यग्गमन आदि।

इनमें प्रसारण, आकुञ्चन एवं तिर्यक्गमन तो स्पष्ट रूप से दार्शनिक कर्म प्रकारों के अनुरूप ही है। आयुर्वेद में वर्णित विनमन अपक्षेपण के भाव को व्यक्त करता है और उन्नमन उत्क्षेपण के भाव को प्रकट करने वाला कर्म है। तिर्यग् गमन में अन्य सारे कर्मों को लिया गया है।

आयुर्वेद में कर्मों को दो भागों में विभक्त करते हुए लिखा है- (1) प्राणियों द्वारा होने वाला कर्म (2) द्रव्यों द्वारा होने वाला कर्म।

(1) प्राणियों द्वारा होने वाले कर्मों को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (क) लौकिक कर्म और (ख) आध्यात्मिक कर्म।

लौकिक कर्मों में उपरोक्त पांचों प्रकार की चेष्टाएं आती हैं तथा आध्यात्मिक कर्म में मंगल कर्म, सद्व्रत-स्वस्तययन-जाप पाठ आदि चेष्टाएं आती हैं।

(2) द्रव्यों द्वारा होने वाले कर्मों का उल्लेख चिकित्सा, द्रव्य गुण, स्वस्थवृत्त, शल्य-शालाक्य आदि विभागों में वर्णित विभिन्न प्रकार के वमन, विरेचन, लंघन, बृंहण, वाजीकरण, रसायन आदि कर्म एवं स्नेहन, स्वेदन, शस्त्र, अग्नि, क्षार, दोष निवारण, दोष वृद्धि, रोग निवारण, स्वास्थ्य धारण आदि अनेकविध द्रव्यों के कर्मों का यथास्थान सभी संहिताओं में एवं संग्रह ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है। शरीर के संस्थानों पर किये जाने वाले कर्मप्रभाव के आधार पर भी द्रव्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। जैसे पाचन-श्वसन आदि सांस्थानिक कर्म जिनका विस्तार भय के कारण यहां संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

त्रिविध कर्म : सामान्यतया प्राणियों द्वारा होने वाले कर्मों को तीन भागों में विभक्त किया गया है। (1) शारीरिक कर्म, (2) मानसिक कर्म, (3) वाचिक कर्म।

प्रश्न : शरीर मानस एवं वाचिक कर्मों का वर्णन करें?

उत्तर : **शारीरिक कर्म :** शरीर की लौकिक प्रक्रियाएं चलना-फिरना, भ्रमण, आदान-प्रदान आदि इन्हीं के कर्म कहे जाते हैं। इनके साथ शरीरावयवों की ऐच्छिक एवं अनैच्छिक दोनों प्रकार की क्रियाएं भी होती देखी जाती हैं। खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना तथा मल-मूत्र आदि के त्याग की क्रिया। अनैच्छिक कर्मों में भोजन की पाक क्रिया, श्वास क्रिया, रक्तपरिभ्रमण क्रिया एवं प्रतिदिन शरीर में दोष धातुओं के क्षयवृद्धि क्रम के साथ रस भाग का उत्तरोत्तर धातु निर्माण क्रिया करते रहना आदि।

मानसिक कर्म : चिन्तन करना, विचारना, मनन करना, ध्यान, संकल्प आदि मानसिक प्रवृत्तियां ही हैं। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये गए ज्ञान के पांचों विषयों को यथावश्यक ग्रहण कर यथा-स्थान उपयोग की व्यवस्था करना। मन के अयोग एवं अतियोग से उत्पन्न होने वाले भय, क्रोध, शोक, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक अविवेकी भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

वाचिक कर्म : कर्मेन्द्रियों में वाक् भी एकेन्द्रिय मान्य है। बोलना, भाषण, गायन, उपदेशादि वाचिक कर्म ही कहे जाते हैं। इस वाणी के अयोग एवं अतियोग, सत्य, झूठ, कलह, अभ्रद एवं अप्रिय भाषण, कठोर आदि की उत्पत्ति होती हैं।

प्रश्न : व्यावहारिक दृष्टि से आयुर्वेदीय कर्म का वर्णन कीजिये?

उत्तर : त्रिविधभिषक् कर्म : यह कर्म प्रधान रूप से तीन प्रकार का होता है- (1) संशमन, (2) संशोधन एवं (3) शस्त्र प्रणिधान।

1. संशमन (अन्त: परिमार्जन कर्म) : आहार व औषध द्रव्यों की योजना एवं पथ्य आहार-विहार का प्रयोग तथा पंचविध कषाय कल्पना (स्वरस, कल्क, फाण्ट, हिम, क्वाथ) के द्वारा रोगों की चिकित्सा करना इसी के अन्तर्गत आते हैं एवं रस, भस्म, आसव, अरिष्ट आदि के प्रयोग कराने से रोगों की तुरन्त शान्ति हो जाती है। इसे अन्त:परिमार्जन कर्म भी कहते हैं।

2. संशोधन कर्म : पंचकर्म चिकित्सा इसके अन्तर्गत आती है। पंचकर्म चिकित्सा में रोगों को समूल नष्ट किया जाता है क्योंकि मूलोच्छेदन होने से दोष पुन: विकृत रूप में उत्पन्न नहीं हो पाते। इसमें अन्त:परिमार्जन एवं बहि:परिमार्जन दोनों आते हैं।

पंच-कर्म पांच प्रकार का होता है।

1. **वमन :** मुख द्वारा दोषों को बाहर निकालना।
2. **विरेचन :** मलमार्ग द्वारा दोषों को बाहर निकालना।
3. **निरूहण :** रूक्ष द्रव्यों से युक्ति वस्ति द्वारा रोग शान्ति।
4. **अनुवासन :** स्नेह द्रव्यों के द्वारा वस्ति प्रदान करना तथा रोगों की निवृत्ति करना।
5. **शिरोविरेचन :** शिरोगत दोषों को नासा के रास्ते से बाहर निकालना।

3. शस्त्र प्रणिधान- यन्त्र शस्त्रों के द्वारा शल्य निकालने एवं घाव फोड़े आदि की चिकित्सा की जाती है। शस्त्र कर्म आठ प्रकार के हैं- (1) छेदन, (2) भेदन, (3) लेखन, (4) वेधन, (5) एषण, (6) आहरण, (7) विस्रावण, (8) सीवन।

इनके अतिरिक्त शल्य चिकित्सा में क्षार एवं अग्निकर्म रोग निवृत्ति हेतु तथा जलौका, अलाबू, श्रृंग आदि का दुष्ट रक्तमोक्षण कर्म हेतु प्रयोग किया जाता है।

अत: आयुर्वेद में दार्शनिक कर्मों के साथ चिकित्सा की दृष्टि से उपरोक्त विभिन्न कर्मों का उल्लेख किया है।

आध्यात्मिक कर्म : इनको दूसरे शब्दों में अलौकिक कर्म भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत उन कर्मों का विवरण दिया गया है जिनसे पारलौकिक सुख प्राप्त हो। इसके लिए आयुर्वेद में सद्वृत, लोक कल्याण की भावना हेतु पुण्य कर्म, प्राणिमात्र के लिए किये गए सत्कर्म एवं सभी शास्त्रसम्मत कर्म इसी के अन्तर्गत आते हैं।

गुण एवं कर्म में अन्तर : गुण एवं कर्म दोनों ही द्रव्याश्रित होते हैं और समवाय सम्बन्ध से रहते हुए भिन्न-भिन्न कार्यों में द्रव्य की प्रवृत्ति में सहायक होते हैं अत: इन दोनों पदार्थों का स्वतन्त्र रूप से विशेष अस्तित्व ही नहीं देखा जाता। अत: दोनों साहचर्य रूप में कार्य न करते हुए अभिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में गुरुता (भारीपन) एक गुण है। किन्तु इस गुरुता के कारण गिर पड़ना एक कर्म है। अत: गुण निश्चेष्ट होकर रहते हैं, जबकि कर्म चेष्टा रूप में।

प्रश्न : गुण एवं कर्म में अन्तर बताइये?

उत्तर :

गुण एवं कर्म में अन्तर

	गुण		चेष्टा (कर्म)
1.	चेष्टा रहित है।	1.	चेष्टावान् है।
2.	मूर्तामूर्त दोनों प्रकार के कारण द्रव्यों में रहते हैं।	2.	कर्म केवल मूर्त द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन) में स्वजातीय व्यापक रूप में रहते हैं तथा अमूर्त द्रव्यों में विजातीय व्यावर्तक रूप में रहते हैं।
3.	संयोग-विभाग में स्वतन्त्र कारण नहीं है।	3.	संयोग-विभाग में स्वतन्त्र कारण है।
4.	गुण का द्रव्य की आन्तरिक शक्ति के रूप में कर्म होता है।	4.	यह द्रव्य की बाहरी शक्ति है।
5.	गुण संख्या में 41 बताये गए हैं।	5.	कर्म के प्रमुख पांच ही प्रकार है।

6.	गुण कर्म की अपेक्षा नहीं रखते।	6.	कर्म या क्रिया में गुण की कारणता देखी जाती है।
7.	गुण कभी-कभी नित्य भी होते हैं।	7.	कर्म सदैव अनित्य होता है।
8.	पूर्व उत्पत्ति से अग्रज है।	8.	पश्चात् उत्पत्ति से अनुज है।
9.	इसका स्वरूप वर्तमान में प्रत्यक्ष है।	9.	इसका स्वरूप भविष्य पर निर्भर करता है।

कर्म का आयुर्वेद में क्या उपयोग : आयुर्वेद दृष्टि से-शारीरिक उत्पत्ति, स्थिति, विकार आदि में कर्म की प्रमुखता देखी जाती है। कर्म का स्वरूप क्रिया है। यह दोष, धातु, मल आदि की क्षय, वृद्धि प्रक्रिया में सहायक है। अत: इनके लक्षण में लिखा है कि चिकित्सा में प्रयुज्यमान क्रियाओं को कर्म कहते हैं। संयोग, विभाग एवं वेग में तीनों कर्म की पहचान होती है। आयुर्वेद में कर्म से वमन विरेचनादि पंच कर्मों का तथा दीपन पाचनादि सांग्राहिक आदि की औषध कर्म कहा गया है।

प्रत्येक शरीर में क्षय एवं वृद्धि स्वाभाविक प्रक्रिया है। इनके सामान्य रहने से क्रिया सामान्य रहती है अधिक मात्रा में क्षय-वृद्धि होने से विकार उत्पन्न होते हैं। अत: शरीर को स्वस्थ रखने के लिए विपरीत कर्म करने वाले द्रव्यों से क्षय वृद्धि को सम किया जाता है। आयुर्वेद में विकार शमन के लिए तीन कर्म सिद्धान्तों का वर्णन किया है, क्षीण तत्वों की वृद्धि, वृद्ध को क्षय तथा सम दोषों को सम रखने वाले कर्म करने चाहिए।

उपयोगिता की दृष्टि से गुण, रस, वीर्य, विपाकादि दृष्टि से आयुर्वेद में विभिन्न कर्मों का वर्णन आया है। यद्यपि दोष, दूष्य एवं मलों की विविधता की दृष्टि से चिकित्सा में उपयोगी अनेक कर्मों का वर्णन किया है। इनमें प्रमुख छ: कर्मों की प्रधानता दी गई है। लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन तथा स्तम्भन। शेष सभी कर्म उन छ: के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। इनको भी संक्षेप में दो रूपों में देखा जाता है। लंघन कर्म एवं बृहण कर्म।

सामान्य निरूपण

प्रश्न : सामान्य के विषय में क्या जानते है वर्णन करें?

उत्तर : सामान्य निरूपण : पदार्थों के परिचय में सामान्य एवं विशेष ही कारण होते हैं। इसी कारण पदार्थ गणना में सर्वप्रथम सामान्य का ही आचार्य चरक ने वर्णन किया हैं। सामान्य से जाति का भी ज्ञान किया जाता है।

''**नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्**'' इस लक्षण के अनुसार नित्य एवं अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पदार्थ सामान्य कहा गया है। अत: सामान्य अनेक पदार्थों में एकत्व ज्ञान उत्पन्न करने वाला नित्य पदार्थ है। पृथ्वीत्व अनेक पार्थिव द्रव्यों में तथा गोत्व अनेक गायों में रहने वाला नित्य पदार्थ है। अनेक गायें आज नष्ट हो रही हैं, हुई हैं एवं होगी भी, पर गोत्वरूप सामान्य जो जातिगत भाव है, नष्ट नहीं होगा, वह बना रहेगा। यह आज भी जिस प्रकार सम्पूर्ण गाय जाति में विद्यमान है, पहले भी था और भविष्य में भी रहेगा।

प्रश्न : सामान्य की परिभाषा लक्षण एवं भेद बताइये?

उत्तर : परिभाषा : नित्य तथा जो अनेक पदार्थों में समवेत रहता है उस पदार्थ को सामान्य कहा जाता है।

नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्। (न्याय-सि०मुक्ता०)

सामान्य का लक्षण :

1. **तुल्यार्थता हि सामान्यम्** (च.सू.)
2. **सर्वदा सर्वभावनां सामान्यत्वं वृद्धिकारणम्** (च.सू.)
3. **जातौ जातिश्च सामान्यम्** (अमरकोष)
4. **वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्** (अष्टांग हृदय सू०1)
5. **नित्यमेकमनेकानुगतम्।** (अन्नभट्ट)
6. **सामान्यमेकत्वकरम्** (च.सू. 1/44)

1. तुल्यार्थ बोधक ज्ञान ही सामान्य कहलाता है।
2. सर्वदा समस्त समान-भाव पदार्थों की वृद्धि करने वाला कारण सामान्य है।
3. प्रत्येक जाति में जातिगत-भाव प्रकट करने वाला सामान्य है।
4. सभी में समान-भाव से होने वाली बुद्धि का नाम सामान्य है।
5. एकाकार वृद्धि के कारण का नाम सामान्य है।
6. अनेक वस्तुओं में एकत्व करने वाला भाव सामान्य है।

सामान्य के भेद- सामान्य तीन प्रकार का होता है- (1) पर सामान्य (Highest) एवं (2) अपर सामान्य (Lower) (3) परापर सामान्य।

पर एवं अपर सामान्य- द्रव्यादि तीनों पदार्थों (द्रव्य, गुण व कर्म) में रहने वाली सत्ता को परसामान्य कहते हैं एवं इसमें भिन्न जाति को अपर सामान्य कहते हैं। व्यापक होने से पर-सामान्य तथा व्याप्त होने से अपर-सामान्य होता है अधिक देश में तथा अधिक व्यक्तियों में रहने वाली जाति पर-सामान्य तथा अल्प देश में अल्प व्यक्तियों में रहने वाली जाति, **'अपर-सामान्य'** है। दोनों के बीच में रहने वाली जाति **'परस्पर-सामान्य'** कहलाती है जैसे द्रव्य, गुण, कर्म में पदार्थत्व भाव पर सामान्य है क्योंकि तीनों के साथ ही पदार्थ शब्द का सम्बोधन किया गया है। पदार्थत्व जाति को सत्ता भी कहते हैं। सत्ता से भिन्न द्रवत्व, गुणत्व आदि जाति अव्यापक तथा अपर-सामान्य है।

परापर सामान्य- द्रव्यत्व आदि जातियां किसी के प्रति पर सामान्य हैं तथा किसी के लिए अपर सामान्य हैं। जैसे-पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व की अपेक्ष कमदेशवृत्ति है क्योंकि केवल पृथ्वी आदि द्रव्यों में ही विद्यमान रहता है जबकि द्रव्यत्व तो पृथ्वी जल तेज में भी रहता है।

परापर सामान्य को समझाने हेतु इस प्रकार भी कह सकते हैं कि संसार में सभी चेतन द्रव्य जीव है। अतः यह जीव द्रव्यरूप जो शब्द है वह पर-सामान्य है परन्तु यदि हम मनुष्य कहें तो मनुष्य से केवल मनुष्य जाति का ही बोध होगा, जो कि जीव के प्रति यह अपर-सामान्य है। गाय जाति का सम्बोधन करें तो वह मनुष्य के प्रति अपर-सामान्य है क्योंकि गाय की संख्या मनुष्य की संख्या से कम है परन्तु मनुष्य गाय के प्रति पर-सामान्य है क्योंकि उसकी संख्या अधिक है। इस प्रकार मनुष्य गाय के प्रति-पर सामान्य तथा जीव से कम होने के कारण अपर-सामान्य है। इसलिए मनुष्य को दोनों के मध्य होने से इसे परापर सामान्य भी कह सकते हैं।

प्रश्न : सामान्य का आयुर्वेदीय दृष्टि से गुण कर्मानुसार वर्णन करें?

उत्तर : आयुर्वेद में आचार्य चक्रपाणि द्वारा चरक संहिता में सामान्य को तीन प्रकार का माना है यथा-

1. **द्रव्य सामान्य-''सर्वदा सर्वभावनां सामान्यं वृद्धिकारणम्''**
2. **गुण सामान्य-''सामान्यमेकत्वकरम्''**
3. **कर्म सामान्य-''तुल्यार्थता हि सामान्यम्''**

द्रव्य सामान्य : पशु-पक्षियों का मांस तथा रोगी शरीर का मांस इन दोनों में मांसत्व सामान्य धर्म है। एक द्रव्य स्वजातिय एवं स्वयोनि द्रव्य की योनि में वृद्धि का कारण होता है। जैसे-मांस से मांस की वृद्धि, रक्त से रक्त की वृद्धि, शुक्र से शुक्र की वृद्धि इत्यादि।

गुण सामान्य : शरीर के जिस दोष धातु मलों में जिस गुण का ह्रास होता है उसकी वृद्धि हेतु उन्हीं गुणों वाले द्रव्य का प्रयोग किया जाता है।

''पयःशुक्रयेर्भिन्नजातीययोरपि मधुरत्वादिसामान्यं तत्रैक्यतां करोति'' जैसे शुक्र से भिन्न होने पर भी दूध अपने माधुर्य एवं स्नेह गुण से शुक्र की वृद्धि करता है। अतः गुणों की समानता होने से यह गुण सामान्य है।

कर्म सामान्य : किसी भी प्रकार के बाह्य कर्म के करने से शरीरस्थ कर्म की वृद्धि होती है तब उन कर्मों की समानता शरीर से बाहर होने वाले कर्मों से होने पर शरीर उन-उन कर्मों की वृद्धि हो जाती है जैसे एकही स्थान पर बैठे रहने से स्थिर,

गुरुता गुण वाले कफ की वृद्धि होती है तथा अधिक तैरना कर्म वातवर्द्धक है। इस प्रकार विभिन्न कर्मों के करने से शरीरगत उन्हीं कर्मों की वृद्धि जिस क्रिया से होती है उसे कर्म सामान्य कहते हैं।

अन्य मत- आचार्य चक्रपाणि ने भट्टार हरिश्चन्द्र द्वारा कथित त्रिविध सामान्य को कोई विशेष महत्व न देते हुए निम्नलिखित दो प्रकार माने हैं-

1. उभयवृत्ति सामान्य।
2. एकवृत्ति सामान्य।

1. उभयवृत्ति सामान्य- जिस क्रिया में बढ़ाने वाला व बढ़ने वाला दोनों द्रव्यो में द्रव्यत्व या गुणत्व सामान्य पाया जाता है वह उभयवृत्ति सामान्य कहलाता है। जैसे-बाह्य मांस खाने के शरीरगत मांस की वृद्धि होना।

2. एकवृत्ति सामान्य- जहां द्रव्यों का प्रयोग सामान्य पोषक रूप सामान्य होता है वह **एकवृत्ति सामान्य** कहलाता है। जैसे-**घृतमग्निकरम्** अर्थात् घृत के सेवन से अग्नि की वृद्धि होती है। यहां घृत तथा अग्नि में कुछ भी सामान्य नहीं है। जबकि घृत स्निग्ध और शीत होता है व अग्नि रूक्ष और उष्ण है अर्थात् घृत में घृतत्व व अग्नि में अग्नित्व भिन्न होते हुए भी सामान्यत्व है। यही यहां एकवृत्ति सामान्य है।

प्रश्न : ''सामान्य का आयुर्वेदीय पक्ष'' बताइये?

उत्तर : शरीर के मूलभूत तत्व, पंचमहाभूत, त्रिदोष, द्रव्य, गुण आदि द्वारा लोक एवं शरीर दोनों में, साम्यता का भाव इसी पदार्थ के आधार पर बताया गया है। रोगज्ञान एवं उसको दूर करने हेतु तो सामान्य का प्रयोग बताया ही है, जैसे वायु एवं जल शीत होने से, दोनों में साम्य है। वायु और आकाश लघु होने से एवं जल और पृथ्वी गुरु होने से दोनों में लघुत्व और गुरुत्व रूप साम्यता है, आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा विभु होने से व्यापकता का साम्य भाव रखते हैं।

इसी तथ्य पर शरीर के त्रिदोष धातु एवं मलों में महाभूतात्मक साम्यता एवं जीव-निर्जीव आदि द्रव्यो में पाया जाने वाला पांचभौतिक संगठन दोनों में साम्य का भाव व्यक्त करने से ही **''सामान्यं वृद्धिकारणम्''** के सिद्धान्त की पूर्ति हो सकती है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए आयुर्वेद के आचार्यों ने इसका विशेष महत्व बताया। बाह्याभ्यन्तर द्रव्य, गुण, कर्मों में समानता के भाव द्वारा ही शरीर की क्षतिपूर्ति होती रहती है। अतः सामान्य को प्रथम एवं पुष्ट पदार्थ मानते हुए पदार्थ गणना-क्रम में सामान्य को प्रथम स्थान दिया गया।

प्रश्न : सामान्य के जाती क्यों नहीं बन सकती कारणों का उल्लेख करें?

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥

अर्थात्-(1) व्यक्ति का अभेद, (2) तुल्यता (समानता), (3) संकर (मिश्रण) दोष, (4) अनवस्था दोष, (5) रूप हानि, (6) एवं असम्बन्ध ये छः जातिबाधक संग्रह कहलाते हैं।

1. व्यक्ति का अभेद : व्यक्ति या पदार्थ एक ही हो, तब उसकी जाति नहीं बनाई जा सकती। अर्थात् जिस धर्म का आश्रय केवल एक ही व्यक्ति होता है, उसे जाति नहीं माना जा सकता। जैसे सर्वत्र व्यापक आकाश एक ही है। अतः आकाशत्व के एक ही व्यक्ति में आश्रित होने से इसे जातिगत नहीं माना गया है।

2. तुल्यता : दो सामान्य धर्म वाले द्रव्यों में भिन्न-भिन्न दो जातियां नहीं बनाई जा सकती। अर्थात् एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न आकार, स्वरूप और नाम होने पर भी उसकी जातियां नहीं होती। जैसे घटत्व, कलशत्व आदि एक ही वस्तु के दो रूप और नाम हैं। क्योंकि जो 'घड़ा' है वही 'कलश' है और जो 'कलश' है वही 'घट' है। यहां दोनों धर्म परस्पर समनियत होने के कारण दो जाति के नहीं माने जाते।

3. संकर दोष : जिसमें एक सामान्य के कुछ भाव दूसरे सामान्य से तथा दूसरे सामान्य से कुछ भाव पहले सामान्य में मिल जायें वहां संकर दोष समझना चाहिए। जैसे भूतत्व और मूर्तत्व। भूतत्व में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच की गणना की गई है। एवं मूर्तत्व में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच की गणना की गई है। यहां मन और आकाश दोनों जाति में आने वाले द्रव्य है। किन्तु पृथ्वी जल, तेज, और वायु ये चार द्रव्य प्रथम सामान्य में भी हैं, एवं द्वितीय सामान्य में भी हैं अतः संकर दोष के कारण इनकी भिन्न जातियां नहीं मानी जा सकती।

4. अनवस्था : कल्पना की अनन्तरूपता का नाम ही अनवस्था है। अर्थात् जहां किसी वर्ग या समुदाय का विभेद करते हुए अवस्था न आ पाये वहां अन्तिम अनवस्था दोष होता है। जैसे-मनुष्य की जाति मनुष्यत्व है यदि मनुष्यत्व की जाति भी मनुष्यता और उसकी जाति भी निरन्तर मानते जायेंगे तो अवसान (रूकावट) न होने से अनवस्था दोष के कारण जाति नहीं माना जायेगा।

5. रूपहानि : रूप में कल्पना करने पर किसी पदार्थ का स्वरूप ही नष्ट हो जाये वहां भी जाति नहीं हो सकती। जैसे विशेष पदार्थ की जाति नहीं हो सकती। क्योंकि विशेष स्वरूप ही जाति के विरुद्ध है। बहुत सी वस्तुओं में अथवा प्रारम्भिक परम्पराओं में भिन्नता व्यक्त करने के लिए ही तो विशेष नामक पदार्थ की कल्पना की जाती है। विशेष पदार्थ द्वारा ही परमाणुओं के परस्पर भेद की सिद्धि तभी हो सकती है जब तक परमाणुओं में रहने वाला विशेष, दूसरे परमाणुओं में रहने वाले विशेष से भिन्न हो। जैसे-कालेज की विभिन्न कक्षाओं में सर्वप्रथम आने वाले छात्रों को एक साथ, एक जाति में रख दिया जायेगा तो सामान्य होने पर उसकी विशेषता का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा।

6. असम्बन्ध : जहां समवाय सम्बन्ध का अभाव हो वहां विभिन्न द्रव्यों को एक जाति के आश्रय में नहीं रख सकते। क्योंकि जाति का व्यक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध होता है। किन्तु जाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। कमरे में पुस्तक, पैन, मेज, स्टूल, पलंग आदि विभिन्न नामों वाले द्रव्यों को एक ढेर के रूप में रखे जाने पर उनको किसी जाति विशेष का नाम नहीं दिया जा सकता। क्योंकि सभी में नाम और स्वरूप की भिन्नता हैं इसी कारण आपस में सभी का असम्बन्ध होने से इसे मात्र वस्तुओं का समुदाय या ढेर ही कहा जायेगा।

विशेष निरूपण

प्रश्न : षड् पदार्थों में विशेष की परिभाषा, गुण, कर्म बताते हुए आयुर्वेद में इसका उपयोग बताइये ?

उत्तर : आयुर्वेद के विद्वानों ने इससे भी अधिक महत्व समझते हुए सामान्य के बाद दूसरे स्थान पर विशेष नामक पदार्थ का वर्णन किया। सामान्य के विपरीत जिस पदार्थ के कारण अनेक पदार्थों के विषय में यह ज्ञान हो कि आपस में भिन्न हैं, उस भिन्नता को बताने वाले द्रव्य ही विशेष होते हैं। जैसे गाय और हाथी के सम्बन्ध में परस्पर भिन्नता का ज्ञान होता है। वह उनमें रहने वाले विशेष नामक पदार्थ के गोत्व और गजत्व के कारण ही है। अतः जो धर्म या भाव संसार की एक वस्तु को अन्य वस्तु से पृथक् करता है उसे विशेष कहा जाता है।

प्रश्न : विशेष की परिभाषा एवं लक्षण लिखें ?

परिभाषा : जो द्रव्य संसार की एक वस्तु का अन्य वस्तुओं से भेद बताता है उसे विशेष कहा जाता है।

लक्षण :

1. **ह्रासहेतुर्विशेषश्च।** (च.सू.अ०1)
2. **विशेषस्तु पृथकत्वकृत्।** (च.सू.अ०1)
3. **विशेषस्तु विपर्ययः।** (च.सू.अ०1)
4. **अत्यन्तव्यावृतिहेतर्विशेषः।**

1. ह्रास का कारण विशेष होता है। 2. पृथक् करने वाले पदार्थ को विशेष कहते हैं। सामान्य का ठीक विपरीत गुण विशेष होता है। बहुत सी वस्तुओं में से किसी एक को अत्यन्त रूप से पृथक् करने वाले पदार्थ को विशेष कहते हैं।

विशेष पदार्थ नित्य होता है, नित्य सभी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। सामान्य से सभी भावों की वृद्धि तथा विपर्यय अर्थात् विशेष से ह्रास होता है।

पदार्थों में भिन्नभाव का कारण तथा द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला, ह्रास का हेतु, अनेक पृथक्त्व और वैसादृश्य करने वाला विशेष होता है।

विशेष द्वारा वस्तु भेदकता : दो वस्तुओं में भेद सामान्य से नहीं किया जा सकता, विशेष ही भेद बताने वाला है। सामान्य से एक कलश का दूसरे कलश से भेद नहीं बताया जा सकता। यदि कोई यह कहे कि-यह छोटा कलश है, बड़ा कलश है, नीला है अथवा पीला है। तब इस प्रकार के लक्षण से पृथक्ता हो सकती है परन्तु दो कलश एक ही रंग व आकार वाले

हों, ऐसी अवस्था में दोनों की पृथक्ता सामान्य द्वारा कुछ अंशों में होगी अत: विशेष या भेद निर्णय के लिए दूसरा साधन मानना ही पड़ेगा। क्योंकि दो कलश कितने ही अंशों में समान हों परन्तु उनके परमाणु अवश्य भिन्न होंगे और प्रत्येक परमाणु का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी अवश्य होता है।

प्रश्न : विशेष के भेदों का परिचय दीजिए ?

उत्तर : विशेष के सामान्य के विपरीत बताया गया है अत: जिस-जिस पदार्थ जाति में सामान्य का ज्ञान किया जाता है, उन्हीं रूपों में विशेष के ज्ञान की भी आवश्यकता देखी जाती है। आयुर्वेद के आचार्यों ने इसका महत्व प्रदर्शित करते हुए इसके समान्यत: तीन भेद किये हैं-(1) द्रव्य विशेष, (2) गुण विशेष और (3) कर्म विशेष।

कुछ विद्वान् इनको अत्यन्त विशेष, मध्य विशेष और एकदेशीय विशेष भी कहते हैं।

1. द्रव्य विशेष- चरक ने इसी द्रव्य विशेष को **'ह्रासहेतुर्विशेषश्च'** कहा है। जैसे-शरीर में मेदा और कफ की वृद्धि होने पर क्षीण करने के लिए यव एवं शहद का प्रयोग, पित्त वृद्धि में आमलकी प्रयोग और वात वृद्धि में तिल तैल प्रयोग, ह्रास में कारण होने से द्रव्य विशेष कहे जाते हैं।

2. गुण विशेष- द्रव्य विशेष का प्रयोग करने पर गुणों के द्वारा, उसके विपरीत गुणों की भी कमी होती है उसे गुण विशेष कहा जाता है। जैसे-उष्ण, स्निग्ध और गुरु गुण के कारण तैल वायु के शीत, रूक्ष और लघु गुण का ह्रास करता है। इसी प्रकार कफ के मधुर-स्थिर एवं गुरु-पिच्छिल गुण के विपरीत कटु-तिक्त-कषाय एवं उष्ण गुण वाले द्रव्य ह्रास में कारण होते है। यही गुण विशेष है।

3. कर्म विशेष- किसी कर्म द्वारा अन्य विपरीत कर्म का ह्रास होने से कर्म विशेष कहा जाता है। कफ की स्थिरता को दूर करने के लिए भ्रमण, जल में तैरना आदि कर्म विशेष कहे जाते हैं। वायु के चल कर्म की वृद्धि होने पर रोगी को बताया गया पूर्ण विश्राम (कर्म) वायु के चल-कर्म का ह्रास करने वाला होता है। इसे ही कर्म विशेष कहा जाता है।

आयुर्वेदीय दृष्टि से विशेष का प्रयोग—जिस प्रकार सामान्य से अनेक भावों की वृद्धि का ज्ञान किया जाता है उसी प्रकार बढ़े हुए दोष धातु और मलों के शमन कर्म, सृष्टि और लय, जन्म और मृत्यु, स्वास्थ्य की रक्षा आदि में विशेष की भी कारणता देखी जाती है। प्रत्येक पदार्थ और द्रव्य में पाई जाने वाली शक्तियों को विशेष पदार्थ द्वारा ही प्रकट किया गया। इसी के आधार पर आयुर्वेद में स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के द्रव्यों का विवेचनात्मक सिद्धान्त स्थापित किया। इसी के आधार पर हरड़, गिलोय, चित्रक, आमलकी (आंवला) आदि द्रव्यों की शक्तियों का पृथक् रूप से ज्ञान किया जाता है तथा स्वास्थ्य और रोगानुसार प्रयोग भी किया जाता है।

द्रव्यों में पाई जाने वाली विशिष्ट शक्ति को प्रभाव के नाम से उल्लेख किया है। रस-गुण-वीर्य आदि के दो द्रव्यों में समानता होते हुए भी उनके द्वारा होने वाले विभिन्न कर्मों का ज्ञान प्रभाव नाम की अचिन्त्य विशेष शक्ति के आधार पर ही किया जाता है। अत: स्थान-काल-प्रकृति, वय (वायु) आदि के अनुसार दोष, धातु, द्रव्य, रोग आदि की विशेषता को जानने के लिए ही आयुर्वेद में विशेष नामक पदार्थ का सामान्य के बाद ही वर्णन किया गया है। दूसरे रूप में सामान्य भावों में उत्कृष्ट भावों को जानने के लिए भी विशेष का निरूपण किया गया है।

यदि विशेष नही होगा तो सभी भाव सामान्य ही रह जायेंगे एवं नाम, व्यवहार, भेद आदि की उपयोगिता ही नहीं रह जायेगी। पदार्थ और द्रव्यों में पाई जाने वाली विचित्रता, विरुद्ध धर्म एवं नाम संज्ञा का विशेष के आधार पर ही विवेचन किया जाना सम्भव है, इसी रूप में विशेष का वैशिष्ट्य भी प्रदर्शित होता है।

प्रश्न : आयुर्वेद में सामान्य एवं विशेष की उभयज्ञता एवं दोनो में अन्तर स्पष्ट करें?

उत्तर : आयुर्वेद में सामान्य एवं विशेष की-(प्रवृत्तिरुभयस्यतु) उभयज्ञता का एवं दोनो में अन्तर निम्न प्रकार से हैं :

प्रश्न : प्रवृति रुभयस्यतु को स्पष्ट करें?

उत्तर : पदार्थ गणना की दृष्टि से तथा व्यावहारिक पक्ष से भी सामान्य एवं विशेष दोनों की पृथक् सत्ता एवं स्वरूप है एवं दोनों परस्पर विरुद्धधर्मी हैं फिर भी दोनों के संयोग द्वारा ही कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति, उनका विनाश एवं स्थिरता भी इन्हीं दोनों पर आधारित हैं। शरीर की रचना, क्रिया एवं शारीरिक अन्य सभी भावों का सामान्य एवं विशेष ज्ञान इन दोनों पर ही आधारित है। कहने का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद के ह्रास और वृद्धि के सिद्धान्तों को पुष्टि के लिए सर्वप्रथम इनका ही उल्लेख प्राप्त होता है।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरूभयस्य तु।। च.सू. 1/44

अनेक द्रव्यों के अनेक होते हुए भी उनमें एकता का जो ज्ञान कराता है वह सामान्य है। इसके विपरीत अनेक पदार्थों के विषय में परस्पर भिन्नता का ज्ञान कराने वाला विशेष है। आयुर्वेदीय दृष्टि से सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहते हैं। संहिताओं में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें सामान्य द्वारा वृद्धि का भाव प्रदर्शित होता है। (1) बाह्य मांस प्रयोग द्वारा पुरुष-शरीर के मांस की समानता द्वारा वृद्धि। (2) उड़द आदि बाह्य द्रव्यों में होने वाले गुरु गुण द्वारा शरीर धातुओं में गुरु गुण के परस्पर समानता होने से वृद्धि होना। (3) जागरण आदि कर्म से रूक्ष-लघु-शीत गुण बढने के कारण वायु में होने वाले इन गुणों की समानता से वात वृद्धि करते हैं।

सामान्य भावों की वृद्धि करने वाले आहार-औषध एवं कर्म का निरन्तर सेवन करने पर अति वृद्धि हो जाती है। अतः विशेष द्वारा ह्रास गुण के कारण इनमें पुनः समता लाई जाती हे। जैसे घृत प्रयोग से से पित्त में, तेल से वात में और मधु प्रयोग से कफ में ह्रास होकर समता आ जाती है। यदि सभी सामान्य भाव हो जाएं और विशेष न रहे तो विशेष भी नहीं रह सकता।

दैनिक आहार-विहार द्वारा शरीर में निरन्तर सामान्य और विशेष गुण ही एक साथ कार्य करते रहते हैं। अतः शरीर निर्माण में गर्भाधान के समय शुक्र और शोणित दो विरुद्धों का संयोग पूर्ण सहयोगी होता है। उसकी प्रकार संसार के विरुद्ध भाव लोक निर्माण में सहायक होते हैं। इसी सिद्धान्त पर शरीर की निरन्तरता बनी रहती है।

इन दोनों समान्य एवं विशेष की उभय प्रवृत्ति से ही सम्पूर्ण क्रियाएं चलती रहती है। बिना विशेष के सामान्य अधूरा है एवं बिना सामान्य के विशेष अधूरा है।

सामान्य और विशेष में अन्तर : सामान्य एवं विशेष भिन्नता के भाव इस प्रकार हैं-

	सामान्य		विशेष
1.	एकता करने वाला।	1.	भिन्नता करने वाला।
2.	वृद्धि का कारण।	2.	ह्रास का कारण।
3.	नित्य, एक तथा अनेक में समवेत होता है।	3.	नित्य, एक तथा एक समवेत होता है।
4.	नित्य द्रव्याश्रयी	4.	सर्व द्रव्याश्रयी
5.	सादृश्यता का भाव प्रकट करने वाला।	5.	वैसादृश्यता का भाव प्रकट करने वाला।

सामान्य एवं विशेष में साधर्म्य :

1. दोनों भाव पदार्थ हैं।
2. दोनों में नित्यता है।
3. दोनों का ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष से होता है।

सामान्य विशेष का चिकित्सकीय महत्व- सामान्य पदार्थ वृद्धि में कारण है तथा विशेष से ह्रास होता है। शरीर पांच भौतिक है तथा शरीर को निरन्तर पोषण के द्वारा स्वस्थ बनाये रखने वाले तत्व भी पांच भौतिक है। अतः देश, काल, सात्म, अग्नि की विषमता से जब शरीर के मूलभूत उपादान, दोष, धातु एवं मलों में विषमता या आ जाये अर्थात् अपने निश्चित परिमाण से क्षय या वृद्धि हो तो इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर लंघन एवं बृंहण क्रिया द्वारा समान गुणधर्म वाले औषध एंव आहार द्रव्यों से वृद्धि तथा बढ़े हुए दोष, धातु एवं मलों की विशेष पदार्थों द्वारा लंघन प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले आहार एवं औषध द्रव्यों से कम करके सम परिणाम में लाया जाता है। अतः आयुर्वेद की चिकित्सा तथा शरीर स्वास्थ्य के लिए आयुर्वेद में इन समान्य विशेष का बहुत महत्व है। समस्त चिकित्सा प्रक्रिया में वृद्ध, क्षीण या वृद्धतम आदि दोषों की स्थिति का आकलन करके इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर चिकित्सा की जाती है।

समवाय निरूपण

प्रश्न : समवाय से क्या समझते हैं इसका आयुर्वेदीय दृष्टिकोण सिद्ध करें?

उत्तर : आयुर्वेद में भी पदार्थ गणना की दृष्टि से छठा व अन्तिम पदार्थ समवाय ही बताया गया है। समवाय शब्द का प्रयोग प्राय: एकजातीय वस्तुओं के समुदाय के अर्थ में व्यावहारिक दृष्टि से किया जाता है। यह एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध है। कुछ विद्वानों ने द्रव्यों में पाये जाने वाले आधाराधेय भाव को समवाय सम्बन्ध बताया है। सम्बन्ध दो प्रकार का होता है-एक संयोग-जिसका गुणों में विवेचन किया है, जो अनित्य सम्बन्ध होता है। किन्तु दूसरा समवाय सम्बन्ध नित्य होता है। इस सम्बन्ध को **'अयुतसिद्ध'** भी कहा जाता हैं अर्थात् अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति एवं विशेष व नित्य द्रव्य आदि में बिना सम्बन्ध के कोई भाव नहीं देखे जाते। परस्पर इस प्रकार की युति या मेल समवाय कहलाती है।

समवाय का अर्थ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके द्वारा दो वस्तुओं का वह सम्बन्ध ज्ञात होता है जो किसी काल में नष्ट नहीं किया जा सकता। अत: समवाय सम्बन्ध अविभक्त होता है।

प्रश्न : समवाय की परिभाषा एवं लक्षण बताइये ?

परिभाषा : दो वस्तुओं का वह सम्बन्ध जो आधाराधेय भाव से नित्य रहता हो वह समवाय सम्बन्ध है अर्थात् दोनों के सम्बन्ध को कभी किसी भी अवस्था में पृथक् न किया जा सकता हो समवाय कहलाता है। जैसे द्रव्य में गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध में रहते हैं।

समवाय लक्षण :

1. **'समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।**
   स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः॥ (च.सू. 1/50)
2. **'अयुतसिद्धानाम् आधाराधेयभूतानां यः सम्बन्धः स समवायः।** (कणाद)
3. **घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मयोः।**
   तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः॥ (कारिकावली)
4. **अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः।** (त०भा०)

अर्थात् :

1. पृथ्वी आदि द्रव्यों के साथ गुणों का पृथक् न होने वाला सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। वह नित्य है। जहां द्रव्य रहता है वहां नित्य रूप में समवाय सम्बन्ध रहता है और नियमित रूप से गुण भी वहीं रहता है।

2. अयुतसिद्ध (कभी पृथक न होने वाले) पदार्थों का आधाराधेय भाव से जो सम्बन्ध है, वह समवाय है।

3. घटादि अवयवों के साथ कपालादि अवयवों में गुण और कर्म का द्रव्य में, और इन सभी में रहने वाले जातिगत सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है।

4. अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय कहलाता है।

सम्बन्ध : उपरोक्त विवेचन में समवाय, संयोग आदि सम्बन्धों का उल्लेख किया गया हैं। अत: इस सम्बन्धों का सामान्य परिचय होना भी आवश्यक है।

संयोग : दो वस्तुओं के मेल का नाम 'संयोग' है। यह अनित्य सम्बन्ध कहलाता है। क्योंकि इसमें संयुक्त वस्तुओं को पृथक् भी किया जा सकता है अत: विच्छेद की क्रिया होने से अनित्य सम्बन्ध है। जैसे मेज पर पुस्तक का रखना और आवश्यकतानुसार हटा लेना।

समवाय : दो पदार्थों के अटूट सम्बन्ध को समवाय कहते हैं कणाद ने कार्य और कारण में पाये जाने वाले विशेष सम्बन्ध को 'समवाय' कहा है। जैसे घट का कपाल के साथ और पट का तंतु के साथ सम्बन्ध होता है। यहां एक वस्तु दूसरे पर आधारित रहती है। यह आधारित होना ही अयुतसिद्ध कहलाता है। अत: समवाय सम्बन्ध नित्य है।

समवाय एवं संयोग में अन्तर

समवाय	संयोग
1. अयुतसिद्ध भाव में रहने वाला।	1. युतसिद्ध भाव में रहने वाला।
2. नित्य।	2. अनित्य।
3. स्वतः सिद्ध।	3. परतः सिद्ध।
4. एक।	4. अनेक।
5. स्थाई।	5. अस्थाई
6. अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, विशेष और नित्य द्रव्यों तथा जाति एवं व्यक्ति में रहता है।	6. किसी भाव विशेष की अपेक्षा नहीं रखता।
7. प्रारम्भ से ही अपृथक् होता है।	7. कुछ काल के लिए सम्बन्ध होता है।
8. सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता।	8. विभाग से सम्बन्ध विच्छेद होता है।

प्रश्न : षड़ पदार्थों में समवाय का चिकित्सकीय महत्व बताइये?

उत्तर : समवाय का आयुर्वेदीय महत्व- दो वस्तुओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। जैसे गुणों का अलग से कोई अस्तित्व नहीं है वे सदैव द्रव्यों में ही रहते हैं वैसे ही समवाय भी अपृथक भाव की तरह रहता है। दूसरे रूप में पृथ्वी आदि आधार द्रव्यों को उसमें रहने वाले गुणों, कर्मों, सामान्य एवं विशेष का जो अटूट सम्बन्ध है वही समवाय है। अवयव अवयवी का, जाति एवं व्यक्ति का, क्रिया एवं क्रियावान का तथा नित्य द्रव्य एवं विशेष का जो सम्बन्ध है वही समवाय है। सामान्य शब्दों में मिट्टी एवं घड़े का तन्तु (धागे) एवं वस्त्र का जो सम्बन्ध है वही शरीर के स्वस्थ एवं विकृत रूप में पांचभौतिक द्रव्यों का सम्बन्ध हैं क्योंकि समस्त जीव एवं निर्जीव वस्तुओं का निर्माण पंचमहाभूतों से होता है। शरीर स्वास्थ्य के लिए उनके स्वस्थ बनाये रखने वाले समवाय सम्बन्ध रूप आहार द्रव्यों का प्रयोग कराया जाता है तथा विकृत स्थिति में लंघन एवं बृंहण कर्म बढ़े हुए एवं कम हुए दोष धातुओं के लिए समान गुण धर्म वालें समवाय द्रव्यों से किया जाता है चाहे वह धातु एवं खनिज हो, वनस्पतियां एवं जांगम द्रव्य हो समवाय सम्बन्ध के कारण ही कार्य करते हैं। अन्य शरीर एवं द्रव्यों के तथा शरीर एवं आहार को नित्य सम्बन्ध अर्थात् समवाय से ही प्रकट कर सकते हैं।

अभाव निरूपण

प्रश्न : अभाव के लक्षण, परिभाषा एवं भेदों का उल्लेख करें?

उत्तर : दर्शनों द्वारा मान्य सात पदार्थों में से अभाव को स्पष्ट रूप से आयुर्वेद में मान्यता नहीं दी गई हैं। क्योंकि शरीर स्वास्थ्य एवं रोग निवृत्ति तथा पुरुषार्थ प्राप्ति में प्रत्येक भाव पदार्थ को साथ लेकर ही उद्देश्यों में सफलता प्राप्त की जा सकती है अतः अभाव को महत्व नहीं दिया गया ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी सृष्टि को दो वर्गों में विभाजीत करते हुए, **''द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च'** में भावात्मक (सत्) और अभावात्मक (असत्) नामक दो पदार्थ वर्ग माने गए हैं अतः आयुर्वेद में किये गए इस वर्णन के आधार पर अभाव का भी निरूपण किया जाना आवश्यक है अथवा यह समझने के लिए कि आयुर्वेद में अभाव को मान्यता क्यों नहीं दी गई अतः अभाव क्या है जिसकी मान्यता आवश्यक है या नहीं? ऐसा समझने हेतु भी इसका वर्णन करना आवश्यक हो जाता है।

अभाव स्वरूप : अभाव को दार्शनिक दृष्टि से सात पदार्थों की गणना में सातवां पदार्थ माना है, जो भाव पदार्थों की अनुपस्थिति का ज्ञान कराता है। प्रत्येक प्राणी को अप्राप्य वस्तु के प्रति अभाव का अनुभव होता ही रहता है। यदि ऐसा न हो तो किसी व्यक्ति की इच्छा या प्रवृत्ति होगी ही नहीं। यदि यह अभाव पदार्थ होता ही नहीं एवं संसार में किसी प्रकार की विशेषतायें भी नहीं होती।

अभाव लक्षण : जो भाव से भिन्न हो वही अभाव कहलाता है।

1. **प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वमभावत्वम्।** (सिद्धान्त चन्द्रोदय)
2. **द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम्।** (सिद्धान्त मुक्तावली)
3. **असमवायत्वे सत्यसमवायित्वम्।** (सर्वदर्शनसंग्रह)
4. **न भावोऽभावः।** (कणादगौतमीयम्)

अर्थात्-

1. अभाव वह है जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी अर्थात् विरोधी पदार्थ के ज्ञान पर आधारित है।
2. छः पदार्थों का पारस्परिक निषेध अर्थात् इन छः पदार्थों से जो पृथक् है वह अभाव है।
3. जो समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता एवं जिसमें कोई समवाय से नहीं रहता, वह अभाव है।
4. जो भावरूप नहीं है वह अभाव है।

प्रश्न : अभाव की परिभाषा, लक्षण एवं भेद लिखें?

उत्तर : परिभाषा : जिस पदार्थ का ज्ञान उसके भाव के ज्ञान के अधीन हो उसे अभाव कहते हैं। अथवा भाव पदार्थों की अनुपस्थिति का नाम भी अभाव है।

अभाव के भेद :

अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च।। (कारि०)

देखा जाये तो भाव पदार्थों की तरह उनके अभाव भी असंख्य है। फिर भी भाव पदार्थों की तरह इनका भी अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है।

1. संसर्गाभाव एवं 2. अन्योन्याभाव।

1. संसर्गाभाव : जहां संयोग आदि सम्बन्ध से एक वस्तु में दूसरी वस्तु के संसर्ग का अभाव सम्बन्ध होता है वह संसर्गाभाव कहलाता है। जैसे वृक्ष पर पक्षी नहीं है। पट की उत्पत्ति से पूर्व तन्तुओं में कपड़े का अभाव। खरगोश के सींग नहीं है अतः सींग का अभाव है आदि।

यह अभाव अनेक प्रकार के संसर्ग का अभाव होने से इसको तीन भागों में विभक्त किया गया है-(क) प्राग्भाव, (ख) प्रध्वंसाभाव, (ग) अत्यन्ताभाव।

(क) प्राग्भाव-''उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य योऽभावः स प्रागभावः।''

कार्य की उत्पत्ति से पूर्व जिसका अभाव हो उसे प्रागभाव कहते हैं। दार्शनिक दृष्टि से-**''अनादिः सान्तः प्रागभावः।''** अर्थात् जिसका आदि न हो परन्तु अंत अवश्य हो, उसे प्रागभाव कहते हैं अर्थात् अविपत्तिकर बनेगा। यहां अविपत्तिकर के निर्माण होने से पूर्व उसका अभाव है। जब अविपत्तिकर बन जायेगा तब इस अभाव का अन्त हो जायेगा। इसलिए अनादि एवं 'सान्तः' कहा गया है।

(ख) ''प्रध्वंसाभावः''- उत्त्पत्यनन्तरं कार्यस्य योऽभावं स प्रध्वंसः।

सादिरनन्तः प्रध्वंसः।

किसी भाव या वर्तमान द्रव्य के नष्ट हो जाने पर जो अभाव हो जाता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह आदि सहित अनन्त होता हैं। यह अभाव उत्पन्न होता है परन्तु इसका कभी विनाश नहीं होता। अतः यह जन्य (उत्पन्न होने वाला) भी है एवं अविनाशी भी है। यह अभाव किसी वस्तु के विनाश होने के समय से उत्पन्न होता है एवं अनन्तकाल तक रहता है जैसे घड़ा आया एवं टूट गया। जो घड़ा टूट गया वह पुनः लौटकर नहीं आ सकता। अतः टूटने पर पुनः अभाव हो गया।

(ग) ''अत्यन्ताभाव''-''त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः।''

जो अभाव तीनों कालो (भूत, भविष्य एवं वर्तमान) में बना रहता है। उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं जैसे-वायु में रूप का अभाव तीनों कालों में रहता है। इसे अनादि एवं अन्तरहित कहते हैं। क्योंकि न तो इसकी उत्पत्ति होती है एवं न विनाश होता है। जैसे-वायु में न तो यह कभी उत्पन्न हुआ न कभी नाश होगा। गधे में या खरगोश में सींग का अभाव होना।

2. अन्योन्याभाव : ''तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योऽन्याभावः।''

परस्पर दो वस्तुओं में बदलने का जो अभाव होता है वह अन्योन्याभाव कहलता है। अर्थात् अन्य का अन्य में परिवर्तित होने का अभाव। इसकी न तो उत्पत्ति होती है एवं न अन्त ही होता है अतः इसे अनादि एवं अनन्त कहा गया है जैसे यह घट

है पट नहीं हैं। क्योंकि घट का अपने स्वरूप के साथ तो तादाम्य सम्बन्ध है वही तादाम्य पट के साथ नहीं है। तादाम्य को Identity कहा गया है। कपड़ा घड़ा नहीं बन सकता एवं घड़ा कपड़ा नहीं बन सकता।

आयुर्वेद में अभाव की मान्यता और समाधान- आयुर्वेद दर्शन में आयुर्वेद में सभी तत्व और पदार्थों को स्वीकार करते हुए भी अभाव का उल्लेख नहीं किया। आयुर्वेद में सतकार्यवाद को मान्यता दी गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत् या भाव रूप से भाव पदार्थों की उत्पत्ति असत् या अभाव से भाव पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रकार अन्धकार को दशम द्रव्य न मानकर तेज का अभाव ही माना गया है उसी प्रकार भाव पदार्थों की अनुपस्थिति को ही अभाव माना गया है। देखा जाये तो अभाव पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है। वह तो मात्र काल्पनिक, औपाधिक अथवा व्यावहारिक रूप से ही वर्णित किया गया है।

सुश्रुत द्वारा **''अपरिमिताश्च पदार्थाः''** कहने से भाव और अभाव रूप पदार्थों के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाला विवाद स्वतः ही समाप्त हो जाता है। यद्यपि चरक ने पदार्थों की गणना में अभाव को नहीं लिया है फिर भी व्यवहार में जिसका प्रयोग और मान्यता प्रमाणित है उसको अस्वीकार न करते हुए कई स्थलों पर इसका वर्णन किया है।

पांचों इन्द्रियों द्वारा सभी प्रकार के भाव पदार्थों का ज्ञान होता है। किन्तु उन्हीं के द्वारा उनके अभाव का भी तो ज्ञान हो जाता है। जैसे-स्पर्श ज्ञान और स्पर्श अभाव त्वचा द्वारा, गन्ध ज्ञान और गन्धाभाव नासिका द्वारा होते हैं। इस प्रकार अभाव स्वरूप को स्वीकार तो किया है किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना है।

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि-दर्शनशास्त्रों मे जिस रूप में अभाव को पृथक् पदार्थ सिद्ध किया है आयुर्वेद में उसको उस रूप में मान्यता न देते हुए भी यथावश्यक स्वीकार किया है। मान्यता न देने का विशेष कारण यही दृष्टिगोचर होता है कि शरीरधारियों के स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए, रोग का अभाव करना ही मुख्य उद्देश्य है।

प्रश्न : अभाव का आयुर्वेद में महत्व एवं पदार्थत्व स्पष्ट करें?

उत्तर : आयुर्वेद में अभाव को नहीं माना गया है। आयुर्वेद में मोक्ष प्राप्ति के लिए वेदना की सर्वथा निवृत्ति को महत्व दिया है अर्थात् पूर्व कर्मों का सर्वथा अभाव होने पर ही वेदनाओं की समाप्ति होती है अतः यहां अभाव करना ही प्रवृति हैं चूंकि भाव पदार्थ ही रोग एवं चिकित्सा में कारण माने गये हैं। दूसरे शब्दों में रोग एवं चिकित्सा में अभाव भी कारण है। किसी भी रोग की चिकितसा भाव पदार्थ से होती है अभाव का अस्तित्व ही नहीं है जिस के प्रयोग से रोग दूर किया जा सके वही भाव है कुछ लोगों का कहना है कि भोजनाभाव से वात की वृद्धि होने से वात रोग होते हैं। दूसरे रूप में कुछ रोग भोजनाभाव से शान्त होते हैं।

अक्षिकुक्षि भवा रोगाः प्रतिश्याय व्रण ज्वरा।
पञ्चैतेविनिवर्त्तन्ते रोगाः केवल लंघनात्॥

ये सभी रोग लंघन करने अर्थात् भोजनाभाव से शान्त होते हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार भाव पदार्थ रोग एवं चिकित्सा में कारण होते हैं उसी प्रकार अभाव भी रोग एवं चिकित्सा में कारण होते हैं। अतः अभाव का पदार्थत्व सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि अभाव के होने में कोई कारण नहीं होता। भोजनाभाव से रोग उत्पन्न होते हैं ऐसा पहले बताया है किन्तु उसका कारण अभाव नहीं है क्योंकि उस भोजनाभाव से शरीर लघुता गुण का भाव उत्पन्न होने से रोग उत्पन्न होते हैं एवं भाव अर्थात् भोजन से ही रोग की शान्ति होती है।

1. अभाव के जो भेद बताये है उनका व्यवहार में उपयोग तो हो ही रहा है। चाहे वह संसर्गाभाव (प्राग्भाव हो, प्रध्वंशाभाव हो या अत्यन्ताभाव) हो या अन्योन्याभाव।

2. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष में विशेषणविशेष्याभाव का वर्णन किया गया है वह भी वस्तु या स्थान की अभाव में विशेषता बताई गई है।

अतः अन्य पदार्थों की तरह साक्षात तो नहीं किन्तु परोक्ष रूप में अभाव का पदार्थत्व सिद्ध हो जाता है।